कविता से साक्षात्कार

मलयज



संभावना प्रकाशन

©
मलयज

कविता से साक्षात्कार (आलोचना) / प्रकाशक संभावना प्रकाशन रेवती कुंज, हापुड़-२४५१०१
आवरण मलयज / मुद्रक सोहन प्रिंटिंग सर्विस शाहदरा, दिल्ली ३२ / प्रथम संस्करण १९७९
मूल्य २७.०० रु०

KAVITA SE SAKSHATKAR [Criticism] by Malayaj
First Edition 1979 Price 27.00

श्री विजयदेव नारायण साही और
स्व० ज्योतिस्वरूप सक्सेना को
अपने युनिवर्सिटी के दिनों की याद में सादर

अनुक्रम





कविता से साक्षात्कार

कविता मेरे लिए अपने अनुभव को महसूस करने और उसे रचने का नाम है और आलोचना उस कविता के कवि को खोजने का। कविता अपने से बाहर दूसरो से जुडने का एक माध्यम है, आलोचना इस जुडने को सभव बनाने का एक साधन। मैं कविता मे जो रचता हूँ आलोचना मे उसी को पहचानता हूँ। कविता मे जिसे टटोलता हूँ, आलोचना मे उसे ही पाता हूँ। कविता मेरे लिए एक आत्मसाक्षात्कार है और आलोचना उसी कविता मे साक्षात्कार।

अनुभव से निकल कर जो कविता बाहर आयी वह मेरे लिए यात्रा का अन्त नही, वह एक नया आरम्भ है जो मुझे आलोचना के अनुभव ससार म ले जाता है। मैने पाया है कि आलोचना का ससार कविता के ससार का विरोधी, उसका विलोम या उसका प्रतिद्वन्द्वी ससार नही है, बल्कि वह कविता के ससार से लगा हुआ समानान्तर ससार है। ये दोनो ससार अपनी-अपनी जगह पर स्वतन्त्र सर्वप्रभुतासम्पन्न ससार हैं, पर दोनो के बीच एक मित्रता की सन्धि है। दोनो एक दूसरे पर अपनी शर्तें और प्रतिज्ञाएँ आरोपित नही करते, पर उनकी एक दूसरे के हितो में आपसी दिलचस्पी है।

कविता कुछ भी सिद्ध नही करती सिवाय एक अनुभव को रचने के। आलोचना कुछ भी प्रमाणित नही करती सिवाय उस रचे हुए अनुभव को व्यापक अर्थ-विस्तार देने के। अर्थ का एक व्यापक ससार है जिसमे वह अनुभव है और उस अनुभव मे कविता है और आलोचना भी। अनुभव ही कविता को आलोचना से जोडता है, पर कविता मे इस जुडने की भाषा अनुभूति है और आलोचना मे विचार।

कविता और आलोचना को जोडनेवाली एक कडी है पाठक। कविता पाठक के साथ एक सवाद है (चाहे यह पाठक स्वय कवि के भीतर ही क्यो न निवास करता हो), और आलोचना इस सवाद की प्रासगिकता को कवि और पाठक दोनो के लिए अन्वेपित करन का काम करती है। कविता और आलोचना इस सवाद की अनिवार्यता के सदर्भ मे ही पाठक के प्रति प्रतिश्रुत होते हैं।

इस सवाद मे ही आधुनिक रचना जन्म लेती है। कुछ अजब नही कि आधुनिक सर्जनात्मकता के केन्द्र मे एक गतिशील द्वन्द्वात्मकता है। स्थिर कुछ नही, अखण्ड कुछ नही, अन्तिम कुछ नही। न मानव-सम्बन्ध, न वस्तु बोध, न समय। सब कुछ बदल रहा है। रचना एक शाश्वत नियम मे नही, एक अनुभवसत्य की प्रासगिकता मे इन्हें आपस मे

जोडती है, इनमे एक सम्बन्ध कायम करती है, इन्हे एक सार्थक संदर्भ मे पुनर्प्रकाशित करती है और इनका अनचीन्हा अर्थ काल के आयाम मे आगे प्रक्षेपित करती है। इस पुस्तक के निबन्धो मे मेरी चिन्ता का विषय यह आधुनिक रचना है।

मैंने जितना इस आधुनिक रचना के भीतर देखना चाहा है उतना ही उसके बाहर भी, क्योकि मैंने देखना चाहा है कि कविता कैसे न सिर्फ अपने भीतर से बल्कि अपने बाहर से भी निर्मित होती है, कि कैसे भीतर का बहुत कुछ सिर्फ बाहर के आलोक मे ही छुआ जा सकता है, कि कैसे बाहर भी बिना भीतर की आग के महज एक संदिग्ध सत्य बनकर रह जाता है। मैंने देखना चाहा है कि कैसे कविता—आधुनिक कविता—भीतर और बाहर के एक तनाव-बिन्दु पर संभव होती है।

मैंने यह जानना चाहा है कि क्या कविता की अनुभूति मे भावावेग की मात्रा मिलाने या बढाने से अनुभूति के गुण (क्वालिटी) में परिवर्तन आ जाता है? कि कविता अनुभूति की दृष्टिसम्पन्नता से प्रासंगिक होती है या अनुभूति मे भावावेग की तेजी और मात्रा से? कि एक प्रासंगिक कविता कैसे एक सार्थक कविता भी होती है?

मैंने जानना चाहा है कि सार्थक कविता क्या होती है—वह जो आज के मनुष्य की धमनी मे समय के दबाव को शिद्दत से महसूस करा दे, या वह जो इस महसूस किए हुए को कर्म की प्रखरता तक ले जाय? वह जो सम्पन्न अर्थच्छटाओ से युक्त कला का कीमती दस्तावेज हो या वह जो जीवन-संघर्ष के जुझारूपन मे घटित होकर सर्जनात्मकता की एक नयी कसौटी सामने ला दे?

मैं यह न कहूँगा कि मैंने केवल प्रश्न ही उठाए हैं, पर इनके उत्तरो की खोज मे जिन भी निष्कर्षो तक मैं पहुँचा हूँ उन्हे मैं समकालीन जीवन और कविता के परस्पर सम्बन्धो की खोज मे आए विभिन्न पडाव कहना ज्यादा पसन्द करूँगा। आलोचना कविता द्वारा उठाए गए प्रश्नो का उत्तर नही देती वह सिर्फ प्रश्नो की अर्थवत्ता और पृष्ठभूमि का उद्घाटन करती है, ताकि इस रहस्योद्घाटन के प्रकाश मे कविता स्वयं अपना उत्तर या प्रश्न रचे।

'सरोज-स्मृति' और निराला

'सरोज-स्मृति' दुख की कविता है, पर इसमे व्यक्त दुख का चेहरा हमारे अब तक के परिचित छायावादी दुख के चेहरे से कितना भिन्न है! इस दुख मे अनुभूति के साथ वह ठोस भूमि भी अपने कच्चे-पक्के रंगो के साथ प्रकाशित है, जिसके भीतर से वह अनुभूति पैदा हुई है। अक्सर तो छायावादी कवि अनुभूति के क्षण मे ही अनुभूति से परे कही और पहुँच जाता है। अनुभूति के साथ सीधी मुठभेड नही, अनुभूति का अतिक्रमण उसका स्वभाव है। जीवन और जगत और इनके आपसी सम्बन्धो के बारे में उसके पास एक जीवन-दर्शन (या कि रहस्य-दर्शन) है, जिसमे उसकी काव्यानुभूति नियन्त्रित होती है। इस जीवन-दर्शन या रहस्य दर्शन के चलते ही छायावादी दुख उपभोग्य, स्पृहणीय और काम्य दुख है—'तुममें पीडा को ढूंढा तुममे ढूंढूंगी पीडा' एक रहस्यात्मक स्थिति से अधिक अनुभूति के प्रति छायावादी कवियो के दृष्टिकोण की ही व्यजना करती है।

छायावादी कवियो ने दुख को बहुत सरस बना दिया है, क्योकि दुख उनके अस्तित्व को चुनौती नही देता था, उन्हे तोडता नही था, बस थोडा और मृदु, थोडा और कोमल, थोडा और भाव-प्रवण बना देता था। इसीलिए छायावादी कविता मे दुख का सगीत तो जरूर मिलता है पर उस दुख को भोगने वाले हाड-मांस के मनुष्य की असली तस्वीर नही दिखाई देती। प्रसाद की 'आँसू' और महादेवी वर्मा के गीतो मे तो दुख अनुभूति से ऊपर उठ कर एक सौन्दर्यात्मक मूल्य का दर्जा प्राप्त कर लेता है। पंत की स्थिति इन दोनो कवियो से थोडी भिन्न है। उनकी कविता मे दुख भोगने वाला हाड-मांस का आदमी ही लगता है, उनका दुख भी ज्यादा स्थानीकृत है, सर्वदेशीय और सार्वकालिक उतना नहीं जितना कि प्रसाद और महादेवी का। पर पन्त का दुख न तो प्रसाद के दुख की तरह बहुरागवैभवपूर्ण है, न महादेवी के दुख की तरह तन्मय और सान्द्र। इसका कारण यह है कि पन्त का दुख एक वयस्क मन का दुख न होकर एक शिशु-मन अथवा किशोर-मन का अपरिपक्व दुख है। जहाँ से पन्त अपने मधुर-मधुर मन को पकने का उद्बोधन देना शुरू करते हैं वहाँ से वे भी प्रसाद और महादेवी के व्यापक सर्वदेशीय सौन्दर्यात्मक दुख के अमूर्त लोक मे चले जाते हैं। पर यहाँ भी प्रसाद और महादेवी तथा पन्त के दुख मे फर्क है। प्रसाद और महादेवी के दुख की व्यापकता और सार्वभौमता उनके वयस्क और परिपक्व व्यक्तित्व का आत्मप्रसार है, जबकि पन्त का वह दुख जिस

पर उन्होंने विश्वमानव की स्वर्णधूल और स्वर्णकिरण की पर्तें बिछाई हैं, मूलत. ओढ़ा हुआ, अत. महादेवी तथा प्रसाद की सम्पन्न दुखानुभूति के सामने विरस और मस्तिष्कीय लगता है।

'सरोज-स्मृति' मे पहली बार दुख एक सौन्दर्यानुभूति के स्तर से अलग एक कठोर वास्तविकता के रूप मे व्यक्त होता है और इस दुख के बखान मे कवि का कण्ठ किसी अन्त सगीत से नही, बाह्य विषमताओ के बोध से फटा-फटा-सा हो गया है। यहाँ दुख का उसके निपट नगेपन म साक्षात्कार है, उसे भुलावा देने या मधुर-मधुर बनाने की चेष्टा नही।

इस दुख का भोक्ता और उसे कविता मे व्यक्त करने वाला भी मूलत कवि ही है। एक छायावादी कवि। पर इस कविता मे कवि का होना सिर्फ इसलिए है कि वह एक मनुष्य (एक पिता) के दुख को अधिक गहराई से, अधिक तीव्रता और उसके अस्तित्व की अनेक अर्थ-सगतियो के साथ महसूस कर सके। अभी तक की छायावादी कविता मे हम यह देखते आये हैं कि दुख की अपनी एक स्वनिर्भर दुनिया है। इस दुनिया मे दुख है और कवि है, इनके बीच दूसरा कुछ भी नही है, अत दुख और कवि एक दूसरे को एक दूसरे पर उँडेल रहे हैं, उडा रहे हैं और उड रहे हैं (आकाश छूने के लिए), या एक दूसरे के गले लग रहे हैं (एक दूसरे मे खोने के लिए)। 'सरोज-स्मृति' दुख को लेकर उडने या उसमे खोने के लिए नही बल्कि दुख को याद करने, उससे भीतर-ही-भीतर मर्माहत होने और बीच-बीच मे बाहर कभी व्यग्य-विद्रूप म तो कभी आत्मधिक्कार म चीख पडने के लिए है। यह चीख छायावादी दुख की स्वनिर्भर दुनिया से बाहर आने की चीख है।

कविता के आरम्भ मे निराला एक छायावादी कवि की मुद्रा ही अपनाते हैं। देखिए.

> ऊनविश पर जो प्रथम चरण
> तेरा वह जीवन-सिन्धु तरण,
> तनये, ली कर दृक् पात तरुण
> जनक स जन्म की विदा अरुण
> गीते मेरी, तज रूप नाम
> वर लिया अमर शाश्वत विराम
> पूरे कर शुचितर सपर्याय
> जीवन के अष्टादशाध्याय,
> चढ मृत्यु तरणि पर तूर्ण चरण
> कह—'पित , पूर्ण आलोक-वरण
> करती हूँ मे, यह नही मरण,
> सरोज का ज्योति शरण-तरण।'

एक आत्मीय दुख के प्रकृत और सहज बखान का आरम्भ यह नही है। अनुभूति को एक भव्य रूपक म बाँधकर महाकाव्य की सी ऊँचाई पर ले जाने की कोशिश है। एक उत्ताप-

रहित, शान्त, सयत ओज जो दुख को अनुभूति नही, उससे एक सीढी ऊपर सौन्दर्य भी नही, एकदम से जीवन दर्शन की स्थिर सत्यता तक ले जाती है जैसे कि यह महाकाव्य की प्रस्तावना हो। इस महाकाव्य के प्रथम दृश्य का रूपविधान बिल्कुल सटीक है सरोज के जीवन के अठारह वर्ष गीता के अठारह अध्याय हैं, जिन्हे पूरा करने के बाद साधारण मौत नहीं, 'अमर शाश्वत विराम' मिलता है। जीवन एक ऊर्ध्वमुख सागर है और मृत्यु एक नौका, जो उस जीवन के पार 'पूर्ण आलोक वरण' तक ले जाती है। इस बिम्ब रूपक से जुडा, बारीक रग-रेखाओ से उकेरा गया, एक पार्थिव विदा का चित्र भी है। यह विदा एक क्षण मे, एक निमिष मे घटित होती है—जैसे डाल से पत्ते का बिन देखे-जाने टूट कर गिर जाना, एक दृष्टिपात की तरह तुरत और अनायास। और विदा भी कैसी? एक तरुण की विदा, जो विदा के भाव को उस क्षणिकता के साथ मिल कर मार्मिक और ट्रैजिक बना देता है। जैसे सवेदना पर सुई-सी चोट पत्थर बनकर सर्वांग को हिला दे। इस ट्रैजिक विदा मे जिसम एक तरुण जन अपनी सम्भावनाओ को चरितार्थ किये बिना ही जीवन-सिन्धु तरण कर रहा है, एक महाकाव्य की उदात्त ऊँचाई है।

यहाँ निराला दुख की अनुभूति से मुठभेड नहीं उसका अतिक्रमण करते हैं। पर वे ऐसा दुख को सह्य बनाने के लिए करते हैं। इसे छायावादी कविता की विडम्बना ही कह लीजिए कि दुख को एक विराट अर्थवत्ता प्रदान करके ही उसे सह्य बनाया जा सकता था। इस चेष्टा के पीछे हमारे जातीय सस्कारो का जबर्दस्त चुम्बक है जो एक औसत हिन्दुस्तानी की अनुभूति के निपट नगे साक्षात्कार मे कहीं-न-कही दार्शनिक बना कर छोडता है। और हमारे छायावादी कवि एक औसत हिन्दुस्तानी से कुछ ज्यादा ही हिन्दुस्तानी थे। असल मे एक औसत हिन्दुस्तानी की यह दार्शनिकता छायावादी कवि के लिए एक 'आदर्श' का दर्जा रखती है जिस तक वह पहुँचना चाहता है—इस वाक्य को थोडा सुधार कर कहें—दार्शनिकता नहीं, बल्कि इस दार्शनिकता की कविता वह आदर्श है जिस तक वह पहुँचना चाहता है।

इस 'आदर्श' को पा लेने में जीवन की कठोर वास्तविकता अव्वल तो एक रुकावट है, लेकिन अगर वह रुकावट बनती भी है तो उसका काम उस 'आदर्श' को पा लेने के लिए कवि मे उदात्त भावनाओ की एक अतिरिक्त उछाल पैदा करना है। निराला ने अन्य छायावादी कवियो के मुकाबले ये रुकावटें ज्यादा हैं, पर उन्होंने उनका इस्तेमाल हमेशा अपने म यह अतिरिक्त भावनात्मक उछाल पैदा करने के लिए नही किया। 'सरोज-स्मृति' मे तो वे आदर्श और यथार्थ के अनुभव स्तरो को साथ साथ एक घुमडते हुए तनाव की स्थिति म जीते हैं। बात यह है कि छायावादी कविता मानव-अनुभूति की तरफ बढने म उससे खिचते जाने की कविता है। छायावादी कवि प्राय आदर्श और यथार्थ के बीच एक निश्चित दूरी बनाये रखता है ताकि दोना के बीच विकलता का भाव अक्षुण्ण बना रहे। विकलता की व्याख्या यह है 'कि जितना खींचता हूँ और खिचता जाय है मुझसे।' इस खिचाव को बनाये रखते हुए अनुभूति के यथार्थ के ज्यादा से ज्यादा निकट पहुँची हुई छायावादी कविता निराला की यह 'सरोज-स्मृति' ही है। इस चेष्टा से इसमे तनाव का वह नाजुक

सन्तुलन न सिर्फ ज्यादा कस गया है बल्कि कहीं-कहीं उसमें दरार भी पड गयी है। यह दरार इस कविता मे ही नहीं, निराला के रचनात्मक व्यक्तित्व मे भी हमेशा के लिए पड गयी है।

फिलहाल यहाँ 'सरोज-स्मृति' का यह पहला पद निराला के उस 'आदर्श' को पा लेने की विकलता का क्षण है। पर निराला को इस शिखर से नीचे उतरना पडता है, क्योंकि एक महाकाव्य की सी निर्वैयक्तिकता को लेकर एक संस्मरण के आत्मीय धरातल पर यात्रा नहीं की जा सकती। फिर भीतर का जो दबाव उन्हे ऊपर शिखर तक ले गया था, वही चट्टान पर टूटती एक पछाड की तरह उन्हें यथार्थ बोध की इस ठंडी क्रूर भूमि पर ला पटकता है

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका।
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित काय
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।

यह है कवि का यथार्थ, जिस पर आदर्श के ऊपर से झडती हुई सुनहली परत तक नही। आप देखेंगे कि आगे के बदो मे भी इस यथार्थ अन-उदात्त भूमि का ठडापन पसरता चला गया है। सरोज के चपल बाल-जीवन की क्रियाओ के वर्णन मे भी एक गीतात्मक उदासी का स्वर छुपाये नही छुपता। केवल दो प्रसग ऐसे हैं जहाँ कवि की ऊष्मा लौटती है, एक जहाँ वह सरोज के यौवनागम का चित्र खींचता है और दूसरा जहाँ वह विवाहोपरात सुहागिन पुत्री की छवि मे अपनी दिवगत प्रिया की उपस्थिति का अनुभव करता है। सौन्दर्य और रस के ये दो प्रसग एक शोक तप्त मर्म की ऊदी पृष्ठभूमि मे सतरगी आभा-सी बिखेरते हुए लगते हैं, हालांकि इन रगो के ऊपर उदासी की एक परछाई धब्बे की तरह बैठी दिखाई देती है। पर इनके बारे म विशेष आगे। अभी तो यह यथार्थ का बडा सा पत्थर, कवि के हृदय पर। इस पत्थर से कवि कभी खुद लहूलुहान होता है तो कभी इसे बाहर फेंक कर अपने परिवेश को घायल करता है। पर भीतरी चोट कुछ ज्यादा ही है। 'स्वार्थ-समर' मे पग-पग पर हारने का बोध आत्मदया का भाव जगाता है, एक आहत अहं का, और इस भाव मे घिर कर पुत्री की स्मृति कुछ और निकट खिंच आती है, इतने निकट कि एक बिन्दु पर पुत्री 'जीवित कविते' बन जाती है। 'सरोज स्मृति' मे एक समानान्तर कथा स्वय कवि के अपने जीवन सघर्षों को लेकर है। सिर्फ एक पिता के नही, एक कवि के अनुभव प्रवाह म आई हुई जीवन स्थितियाँ और मनोदशाएँ, जिन्हे इस कविता म दुबारा जिया गया है। इसीलिए सरोज सिर्फ पुत्री नही, कवि के रचना-सामर्थ्य को ललकारने वाला वह यथार्थ है जिससे कवि लडा है और हारा है। सरोज कवि का सबसे बडा दर्द और मन मे गडी हुई फाँस है, क्योंकि वह उसकी 'गद्य मे पद्य मे समाभ्यस्त' प्रतिभा की विवशता है।

यह द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध, जिसमे पुत्री पुत्री होने के अतिरिक्त भी कुछ और है और पिता पिता होने के साथ एक कृतिकार भी, कविता मे एक तनाव की तरह व्याप्त है। सरोज आदर्श भी है और यथार्थ भी। इनमे से कोई भी एक दूसरे की सत्ता का प्रतिकार नही करते। इनमे आपस मे टक्कर जरूर होती है, कुछ जीवन्त रेशे टूटते भी हैं, पर ये हमेशा एक दूसरे की आँखो मे घूरते आमने सामने खडे रहते है। यह तनावपूर्ण सन्तुलन 'सरोज-स्मृति' की सरचना की मूल स्थिति है। पर चूँकि इस कविता का रूपाकार एक सस्मरण का है—घटित अनुभव को दुबारा जीने का है—इसलिए निराला उस तनाव को टूटने न देते हुए भी उसके सन्तुलन को लचीला बना सके हैं। सरोज के बचपन का फ्लैशबैक और उससे लिपटे चले आये स्वय कवि के पुनर्विवाह का प्रसग, 'निरानन्द सम्पादक-गण' की 'गुणग्राहकता' का बखान, जहाँ—

पास की नोचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर उधर
भाव की चढी पूजा उन पर।

का उदासी के रग मे रगा व्यग्य फूट पडता है, या फिर 'पद फटे बिवाई' के उधार/खाये के मुख ज्यो, पिये तेल/चमरौधे जूते से सकेल/निकले, जी लेते' कान्यकुब्ज-कुल-कुलाँगारो का वर्णन विशेष—ये सब उस तनाव की मूल शर्त अर्थात आदर्श और यथार्थ की मुठभेड का खडन नही करते, बल्कि कभी क्षोभ और कभी मुस्कान की लहरियाँ उत्पन्न कर उस तनाव के सवेदना वृत्त को और विस्तृत कर देते हैं। तनाव का सदर्भ वैयक्तिक दुखानुभूति के तीव्र बिन्दु तक ही सिमटा न रहकर परिवेश के विषम ताने बाने की मूर्त सच्चाई तक फैल जाता है। कवि के लिए यह तभी सम्भव हो पाता है कि वह सिर्फ सरोज का ही स्मरण न करे अपना भी, या अपना ज्यादा सरोज का कम, स्मरण करे। इस स्मरण मे एक गीति-रचना की कसावट है और एक आख्यान का प्रसार। कवि का स्वर कभी तेज होता है कभी मद्धम पडता है और कभी अस्पष्ट बुदबुदाहट मे बदल जाता है। भावावेश की नोक पर चढी कवि-कल्पना कभी उदात्त को छूती हुई तरल और सूक्ष्म होती है, तो कभी ठेठ जमीन पर छोटे से छोटे ब्यौरो तक के चित्रण मे सटीक और ठोस, और कभी वस्तु और भाव के बीच ऐन्द्रिक सवेदन के अकन मे थरथराती हुई, प्रदर्शित। एक स्मरण के भीतर कई स्मरण हैं, सरोज और अपना तो है ही, स्वर्गीया प्रिया का स्मरण भी इनमे कही-कही झाँक जाता है।

स्मरण के ये सभी स्तर उस तनाव के बाहर हैं, पर उस तनाव के अश हैं, इसलिए उसके भीतर भी हैं। इस तरह 'सरोज-स्मृति' ऊपर से अपने रूपाकार मे जो इतनी सरल दीखती है वास्तव मे एक अत्यन्त सश्लिष्ट रचना है। इसका प्रवाह एक सीधी रेखा मे न होकर वर्तुलाकार उतार-चढाव का है। इसके काव्य-अनुभव मे शुद्ध सौन्दर्य और उस सौन्दर्य के बाहर घटित अनुभव की निर्मम वास्तविकता तह-दर-तह एक दूसरे से रगड खाते, छिलते चले गये हैं। एक दूसरे पर अवलम्बित, एक दूसरे को पुष्ट करते हुए। एक-दूसरे से खिचते, एक दूसरे के पास आते हुए।

इस तरह 'सरोज-स्मृति' की छोटी-सी दुनिया म कवि के भीतर और बाहर की छोटी बडी कई दुनियाएँ समाई हुई हैं। पर इन तमाम दुनियाओ से मिलकर बनी हुई 'सरोज-स्मृति' की दुनिया का केन्द्रीय चरित्र स्वय इस कविता का कवि है—एक द्वन्द्वात्मक स्थिति के केन्द्र मे स्थित। यह चरित्र पूरी कविता मे उसके आरम्भ से अन्त तक छाया हुआ है। एक ऐन्द्रजालिक की तरह यह चरित्र इन सभी दुनियाओ को अपने भीतर से निकालता है, पर उसकी मुख्य रचना है सरोज। सरोज मानो इन सभी दुनियाओ के लिए प्रवेश-द्वार है। इन दुनियाओ से सब नाते सरोज के कारण हैं। ननसाल और सासजी की दुनिया सरोज की बालक्रीडा के लिए है। साहित्यिक विफलता की टीस भी इसलिए है कि कवि सरोज के लिए उपार्जन को अक्षम' रहा। पुनर्विवाह के प्रसग मे सारे आयोजन को अस्त-व्यस्त करने वाली सरोज ही है—'सकेत किया मैंने अखिन्न जिस ओर कुडली छिन्न भिन्न/देखने लगी वे विस्मय भर/तू बैठी सचित टुकडा पर'। अपने चारो ओर घिरते कसते परिवेश के विरुद्ध कवि का जो आक्रोश अपने सजातीय कुलागारो पर फटकार के रूप म बरसा है उसका मूल भी सरोज ही है। फिर इन प्रत्यक्ष दुनियाओ के बाहर एक अप्रत्यक्ष दुनिया कवि की दिवगता पत्नी की है और उसे भी सरोज ही 'मेरे बसत की प्रथम गीति' के रूप म उजागर करती है।

अपनी इस मुख्य रचना सरोज के साथ कवि का 'व्यवहार इस कविता की सरचना को काफी दूर तक निर्धारित करता है। स्थूल रूप मे यह 'व्यवहार' सरोज की वय से जुडा हुआ है—बालिका रूप, नवयुवती रूप और एक युवा सुहागिन पुत्री का रूप। पर वय के साथ बदलते इस 'व्यवहार' के पीछे कवि के आदर्श और यथार्थ के तनावपूर्ण सम्बन्ध की घिरती-मिटती छायाओ की अन्त सगति भी है। सरोज का बचपन का रूप इस तनाव से मुक्त है, यह रूप सरल है जिस पर एक पिता की ममता बरसती है, इस रूप की आयोजना मे एक भीतरी मुक्ति है—वर्तमान यथार्थ परिवेश की सघर्षयुत चेतना से मुक्ति—अत उस बचपन के अकन मे एक सहज मोद है—

तू सवा साल की जब कोमल
पहचान रही ज्ञान म चपल
माँ का मुख, हो चुम्बित क्षण-क्षण
भरती जीवन म नव जीवन।

यह काल की द्वन्द्वात्मक चेतना से परे हँसते हुए बचपन का शाश्वत चित्र है। कवि का बनाया हुआ चित्र। सरोज म अभी अपनी खुद की कोई 'हरकत' नहीं है, वह कोई 'दूसरा' नही है, वह कवि मे से निकली है और कवि की है। पर शीघ्र ही बचपन के इस सक्षिप्त पर्लदर्शक म एक-एक कर वे दूसरी दुनियाएँ प्रवेश करने लगती हैं और कवि तथा सरोज के सम्बन्ध भी बदलने लगते हैं।

इस बदलाव का पहला सकेत वहाँ है जहाँ एकाएक सरोज जवान होने लगती है—

नैश स्वप्न ज्यो तू मद मद
फूटी ऊषा जागरण छद

कांपी भर निज आलोक भार
कांपा वन, कांपा दिक् प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल—
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल।

यह जैसे कवि ने अपनी रचना मे रंग भरा हो, उसे अलंकार पहराये हों। पर यहीं से उसे एक धीरे-धीरे आकार लेते व्यक्तित्व का अहसास भी होने लगा है :

तू खिंची दृष्टि मे मेरी छवि
जागा उर मे तेरा प्रिय कवि
उन्मनन-गुंज सज खिला कुंज
तरु पल्लव कलि-दल पुंज पुंज
बह चली एक अज्ञात बात
चूमती केश—मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन।

यह रूप-छवि ऐसी है जो पिता के पितृत्व को नहीं, कवि के कवित्व को उद्दीप्त करती है। कवि उन आँखों मे अपनी ही छवि देखता है और उस छवि को अपने कल्पना सामर्थ्य से भर देता है, जो अभी तक कली म बन्द एवं कोमल भाव रहा उसे मूर्त रूपाकार देने लगता है। यह सारी रूप सृष्टि उसकी है, उसकी की हुई है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट हो चला है कि वह अब उस सृष्टि का नियामक नहीं रहा—'समझा मैं तेरा जीवन' की स्वीकृति अपने से अलग हो रहे एक स्वतन्त्र जीवन की स्वीकृति है।

सरोज के साथ कवि के इस बदले हुए सम्बन्ध का यह सोचता-सा चित्र शीघ्र ही एक क्षुब्ध सागर के फेनिल शोर म डूब जाता है। यह सागर यथार्थ का है, उस वास्तविकता का जो कवि का परिवेश है। इस सागर की लहरों मे (एक यथार्थ के भीतर यथार्थ की कई दुनियाएँ) पिता और पुत्री, कवि और उसकी रचना के सम्बन्ध डूबते-उतराते रहे हैं। डूब कर उतराने के बाद हर बार इनके बीच का सम्बन्ध थोडा बदल जाता है।

इस बदलाव की प्रक्रिया मे जो यथार्थ-स्थितियाँ विक्षोभ पैदा करती हैं, उनका एक पक्ष यह है :

सोचा मन म हत बार-बार
ये कान्यकुब्ज-कुल-कुलांगार,
खा कर पत्तल मे करें छेद
इनके कर कन्या अर्थ खेद
इस विषय-बेलि मे विष ही फल
यह दग्ध मरुस्थल—नहीं सुजल।]

यह सिर्फ बाहर घटित होने वाली अनुभूति नहीं है, बल्कि यह एक लम्बे अरसे से कवि के

सच्चाई नही, कोई कला-वला नही, स्वयं अपना आपा है—अपना सर्वस्व ! इस देने के अद्भुत और शक्तिशाली जज्बे मे प्राप्तकर्त्ता बेचारे का अस्तित्व कही लोप हो चुका होता है, सिर्फ शमशेरजी की स्वत्व के सम्पूर्ण दान मे उठी हुई उदात्त मुद्रा रह जाती है।

शमशेरजी कह रहे थे, "···अक्सर लोगो ने मेरे दबे-दबेपन, बुझे-बुझेपन, खुद को एसर्ट न कर पाने "हीनताग्रथि ?···की ओर सकेत किया है—बच्चन, राजनाथ पाण्डे ने इधर खासतौर पर। मुझे इस सिलसिले मे नरेन्द्र की कही हुई एक बात याद आती है, पता नही नरेन्द्र उस वक्त कितने गम्भीर थे·· नरेन्द्र विटी और शरारती भी कम नही—सो उन्होने कहा था यार, यह तुम्हारी हीनता ग्रथि नही बल्कि श्रेष्ठता ग्रथि है जिसके कारण तुम दबे-दबे से रहते हो। बात शायद हल्के-फुल्के मूड मे ही कही गयी थी पर लगता है उसमे सच्चाई का एक अश था जरूर।···मेरा आदर्शवादी स्वभाव हर चीज टॉप लेवल की ही चाहता रहा, मैंने बडी सख्त कसौटी रखी, जिस पर मैं दूसरों के साथ साथ खुद अपने को भी कसता रहा। ···कह नही सकता उस कसौटी पर कौन खरा उतरा···हो सकता है यह एक असम्भव कसौटी रही हो, शायद थी भी, और उसकी असम्भवता के बोझ के नीचे मैं दबा-दबा, बुझा-बुझा रहा। शुरू मे मैं केवल उसे महसूस कर सकता था, अब कुछ-कुछ जानने भी लगा हूँ···।"

"मार्क्सवाद और मेरे आदर्शवाद मे कम से कम मेरे लिए कोई विरोधाभास नही रहा, मार्क्सवाद मेरे तई मेरे उस आदर्शवाद का ही एक अग था, कोई सिद्धांतवादिता नही, वह मेरी एक रूहानी जरूरत की पूर्ति करता था। मैं उस अर्थ मे मार्क्सवादी कभी रहा भी नही जिस अर्थ मे मेरे प्रगतिशील दोस्त रहे हैं, मसलन, चौहान और राजीव सक्सेना। मुझे पार्टी के लोगो ने उस रूप मे कभी गम्भीरता से नही लिया, उनके यहाँ शायर और लेखको का एक अलग खाना था जिसमे मुझे रख दिया गया था···बहुत कुछ अनरिलायबुल···पर हाँ, मार्क्सवाद मेरी जरूरत थी, सच्ची जरूरत, उसने मुझे मार्बिड और रुग्ण मन स्थिति से, जिसम कि मुझे डर था कि पडा रह कर मे बिल्कुल ही डूब जाऊँगा, सपाट हो जाऊँगा, मुझे उबारा। मार्क्सवाद का जनवादी रूप, उसकी जनवादी आकाक्षा हमेशा मुझे आकर्षित करती रही—बुनियादी तौर पर मुझे हर वह चीज आकर्षित करती है जो मुझसे, मेरी प्रकृति से भिन्न हो, क्योकि मुझे लगता है कि इस तरह मेरी अपनी कोई कमी पूरी हो रही है उस दूसरे मे···मैं जो नही हूँ और जो होना चाहता हूँ, इसके सघर्ष मे पडने और उस सघर्ष का सब जोखिम उठाने के सिवाय मेरे पास एकमात्र रास्ता यही था कि मैं अपने रुग्ण और मार्बिड एहसासो के अँधे कुएँ मे हमेशा के लिए गिर जाऊँ···इसीलिए मैं कहता हूँ मार्क्सवाद और मेरे आदर्शवादी स्वभाव मे कोई अतर्विरोध नही।" ··

मार्क्सवाद ने शमशेरजी को चाहे उस अँधे कुएँ से भले निकाल लिया हो, पर उनकी असुरक्षा भावना को दूर न कर सका, क्योकि मार्क्सवाद ने उनके सिर्फ एक जिन्दा हिस्से को अगीकार करना चाहा, उनके सम्पूर्ण को नही। स्वत्व का सम्पूर्ण दान करने को उठा [illegible] ··र मे ही उठा रहा—"इनसान रोटी पर ही जिन्दा नही · इस सच्चाई

कांपी भर निज आलोक भार
कांपा वन, कांपा दिक् प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल—
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल।

यह जैसे कवि ने अपनी रचना मे रग भरा हो, उसे अलकार पहराये हो। पर यहीं से उसे एक धीरे-धीरे आकार लेते व्यक्तित्व का अहसास भी होने लगा है :

तू खिंची दृष्टि मे मेरी छवि
जागा उर मे तेरा प्रिय कवि
उन्मनन-गुंज सज खिला कुज
तरु पल्लव कलि-दल पुज पुज
बह चली एक अज्ञात बात
चूमती केश—मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन।

यह रूप-छवि ऐसी है जो पिता के पितृत्व को नहीं, कवि के कवित्व को उद्दीप्त करती है। कवि उन आंखो मे अपनी ही छवि देखता है और उस छवि को अपने कल्पना सामर्थ्य से भर देता है, जो अभी तक कली मे बन्द एक कोमल भाव रहा उसे मूर्त रूपाकार देने लगता है। यह सारी रूप-सृष्टि उसकी है, उसकी की हुई है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट हो चला है कि वह अब उस सृष्टि का नियामक नहीं रहा—'समझा मैं तेरा जीवन' की स्वीकृति अपने से अलग हो रहे एक स्वतत्र जीवन की स्वीकृति है।

सरोज के साथ कवि के इस बदलते हुए सम्बन्ध का यह सोचता-सा चित्र शीघ्र ही एक क्षुब्ध सागर के फेनिल शोर म डूब जाता है। यह सागर यथार्थ का है, उस वास्तविकता का जो कवि का परिवेश है। इस सागर की लहरों म (एक यथार्थ के भीतर यथार्थ की कई दुनियाएँ) पिता और पुत्री, कवि और उसकी रचना के सम्बन्ध डूबते-उतराते रहे हैं। डूब कर उतराने के बाद हर बार इनके बीच का सम्बन्ध थोडा बदल जाता है।

इस बदलाव की प्रक्रिया मे जो यथार्थ-स्थितियाँ विक्षोभ पैदा करती हैं, उनका एक पक्ष यह है :

सोचा मन मे हत बार-बार
ये कान्यकुब्ज-कुल-कुलांगार,
खा कर पत्तल मे करें छेद
इनके कर कन्या अर्थ खेद
इस विषय-बेलि म विष ही फल
यह दग्ध मरुस्थल—नहीं सुजल।

यह सिर्फ बाहर घटित होने वाली अनुभूति नहीं है, बल्कि यह एक लम्बे अरसे से कवि के

भीतर घट रही थी, क्योंकि यह उस क्षुब्ध यथार्थ-सागर की एक लहर है जो शुरू से ही कवि के भीतर गरज रहा था। कविता के आरम्भ में ही जिस 'जीवन-सिन्धु' का उल्लेख हुआ है वह यही तो है—बार-बार कवि-मन के भीतर से फूट कर उछल कर बाहर आता हुआ और बाहर आने में भीतर का कुछ तोड़, कुछ मिटा जाता हुआ और फिर कुछ पीछे छोड़कर धीरे-धीरे वापस लौट जाता हुआ। जहाँ लहरें ऊपर चढ़ती हैं वहाँ एक वेग है, भावनाओं का शोर, क्षोभ की गूंजती हुई तल्खी। ऐसे में भाषा अनेक अर्थ-आवर्तों में घिर कर मानो ठोस पत्थरों से टकराती हुई चलती है। जहाँ उतार है वहाँ एक समरस पठारी वर्णनात्मकता है, प्रायः बिम्ब प्रतीक रहित निरलंकृत भाषा-प्रवाह—पढ़ना श्रम को कुछ कर हल्का हो लेने का भाव।

एक जगह जहाँ लहरों का शोर कुछ पीछे छूट गया है, यह चित्र उभरता है—

देखती मुझे तू हँसी मंद
होठों में बिजली फँसी स्पन्द
उर में भर झूली छवि सुन्दर
प्रिय की अशब्द शृंगार मुखर
तू खुली एक उच्छ्वास संग,
विश्वास-स्तब्ध बँध अंग-अंग
नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर-थर-थर।

सरोज का यह विवाह के तुरन्त बाद का चित्र है। रचना कवि से अलग एक पूर्ण स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त कर चुकी है और इन पंक्तियों में पहली बार कवि उस रचना को बराबरी के स्तर पर देखता है। या शायद रचना ही पहली बार उन्मुक्त दृष्टि से अपने स्रष्टा को देखती है। पहले कवि सरोज की आँखों में अपनी ही छवि देखता था, अब उन आँखों में उससे अलग एक नया संसार रच गया है। इस संसार के रचे जाने तक कवि उसके साथ-साथ रहा है, पर अब वह वहाँ नहीं है। पहली बार उसकी रचना 'हरकत' कर रही है—होठों में फँसी बिजली लिए मन्द हँसी'''सरोज का एक उच्छ्वास के साथ धीरे-धीरे खुलना'' और इस खुलने में बँधे हुए अंगों का सभ्रम में ठिठक पड़ना ' झुकी आँखों से काँपते अधरों पर एक भीतरी आलोक का थरथराते हुए उतरना—ये सारे कोमल संकेत एक सौन्दर्य के क्रमशः पूर्ण प्रस्फुटित होने के हैं। यह सौन्दर्य पहले के सौन्दर्य की तरह स्थिर चित्रलिखित नहीं है, बल्कि इसमें एक गति है, एक आन्तरिक उमगन, एक खुलाव, एक वयस्क ऐन्द्रिक स्पर्श। कवि अपनी रचना को एक नयी सम्बन्ध-भूमि पर देखता है :

देखा मैंने वह मूर्ति धीति
मेरे वसंत की प्रथम गीति
शृंगार रहा जो निराकार
रस कविता में उच्छ्वसित धार
गाया स्वर्गीया-प्रिया संग—

भरता प्राणो म राग-रग,
रति रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदल कर बना मही।

यथार्थ यह है कि सरोज एक मातृविहीन पुत्री है जिस पर पिता की ममता बरसती है, और आदर्श यह कि सरोज एक रचना है स्वतन्त्र, रूपवैभवपूर्ण और सम्भावना के एक नये द्वार पर खडी हुई। इस स्थल पर यथार्थ और आदर्श दोना की परिधियाँ एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं, एक दूसरे को लगभग छूती हुई सी। कवि इस नयी सम्बन्ध-भूमि पर इन्हें एक साथ तीव्रता से महसूस करता है। इसीलिए उसका स्वर सधा हुआ है, उसम एक बारीक शिल्प-सयम और सन्तुलन है, बहुत कुछ को थोडे म व्यक्त करने का शब्द-लाघव, और अब एक ऐसी निस्सगता जिसम यथार्थ और आदर्श दोनो ही रचनात्मकता के एक तीसरे स्तर पर सन्नमित हो जाते हैं। तभी पुत्री पुत्री होकर भी रचना ही रहती है ('मेरे वसत की प्रथम गीति') और रचना रचना होकर भी अन्तत. पुत्री ही रह जाती है ('आकाश बदल कर बना मही')।

सरोज की इस नयी मूर्ति म—जो एक ओर धैर्य की प्रतिमा है और दूसरी ओर प्राणो म राग रग भरने वाला रति रूप—एक नयी पहचान, एक नयी आत्मीयता जुडती है 'स्वर्गीया प्रिया' के ध्यान से। गौर कीजिए, कवि को सरोज के क्रमश्म से तीनो ही रूपो—बालिका, नवयुवती, सद्य परिणीता—के चित्रण मे अपनी स्वर्गीया प्रिया का ध्यान बार-बार आता है। सरोज का स्मरण एक तरह से प्रिया का भी स्मरण है। सरोज जैसे नये सिरे स कवि और उसकी प्रिया को एक दूसरे के निकट लाती है—उस 'अनुपस्थित' प्रिया को 'उपस्थित' बनाती है। जो है वह जो नही है, उसकी याद ताजा कर जाता है। यह प्रिया भी अपनी रची गयी 'उपस्थिति' द्वारा स्वय सरोज को भी कवि के लिए अधिक 'उपस्थित', अधिक तात्कालिक, अधिक अनुभूत बनाती है। वह सरोज को कवि के साक्षात्कार के लिए सम्भव बनाती है।

पर यह सम्पूर्ण हुई रचना इस साक्षात्कार के क्षण मे ही कवि से छिन जाती है। जो है वह भी जो नही है, उसम मिल जाता है। सरोज को खोकर जैसे कवि अपनी प्रिया को दुबारा खो देता है, उस प्रिया को जो उसके साथ इस सरोज म थी—उस सौन्दर्य और रस मे, जिसे दोनो ने मिलकर साथ-साथ रचा था एक सम्भावना मे। एक के खोने मे यह दो का खोना—एक पूरे रचना ससार का खोना—कुछ इतना बडा है कि भावनाओ के ज्वार की नोक पर नही झेला जा सकता। इसके लिए चाहिए एक ठण्डा पठार। कोई ताज्जुब नहीं कि सरोज की मृत्यु की सूचना बडे सादे, लगभग निरावेग ढग से दे दी गयी है। थोडी देर पहले सरोज के उस रचनात्मक रूपोत्कर्ष के क्षण म ही भीतर-भीतर जो एक चुपचुप उदासी रिस रही थी, वह क्या इसी भावावेग के उतार की पूर्वसूचना थी ?

लेकिन भावना के ज्वार बिन्दु पर एक बार कवि फिर लौटता है। यह ज्वार कैसा है ? यथार्थ और आदर्श के बीच किसी ढीले पड गये सन्तुलन को कसता हुआ नही, बल्कि उनके रहे-सहे ताने-बाने को भी तोड देता हुआ। जो तनाव अपने तमाम उतार-

सच्चाई नहीं, कोई कला-वला नहीं, स्वयं अपना आपा है—अपना सर्वस्व ! दान देने के अद्भुत और शक्तिशाली जज़्बे में प्राप्तकर्त्ता बेचारे का अस्तित्व कहीं लोप हो चुका होता है, सिर्फ शमशेरजी की स्वत्व के सम्पूर्ण दान में उठी हुई उदात्त मुद्रा रह जाती है।

शमशेरजी कह रहे थे, "…अक्सर लोगों ने मेरे दबे-दबेपन, बुझे-बुझेपन, खुद को एसर्ट न कर पाने… हीनताग्रंथि ?… की ओर संकेत किया है—बच्चन, राजनाथ पाण्डे ने इधर खासतौर पर। मुझे इस सिलसिले में नरेन्द्र की कही हुई एक बात याद आती है, पता नहीं नरेन्द्र उस वक्त कितने गम्भीर थे नरेन्द्र विटी और शरारती भी कम नहीं—तो उन्होंने कहा था यार, यह तुम्हारी हीनता ग्रंथि नहीं बल्कि श्रेष्ठता ग्रंथि है जिसके कारण तुम दबे-दबे से रहते हो। बात शायद हल्के-फुल्के मूड में ही कही गयी थी, पर लगता है उसमें सच्चाई का एक अंश था जरूर।' मेरा आदर्शवादी स्वभाव हर चीज टॉप लेवल की ही चाहता रहा, मैंने बड़ी सख्त कसौटी रखी, जिस पर मैं दूसरों के साथ साथ खुद अपने को भी कसता रहा।…कह नहीं सकता उस कसौटी पर कौन खरा उतरा…हो सकता है यह एक असम्भव कसौटी रही हो शायद थी भी, और उसकी असम्भवता के बोझ के नीचे मैं दबा-दबा, घुटा-घुटा रहा। शुरू में मैं केवल उसे महसूस कर सकता था, अब कुछ-कुछ जानने भी लगा हूँ…।"

"मार्क्सवाद और मेरे आदर्शवाद में कम से कम मेरे लिए कोई विरोधाभास नहीं रहा, मार्क्सवाद मेरे तईं मेरे उस आदर्शवाद का ही एक अंग था, कोई सिद्धांतवादिता नहीं, वह मेरी एक रूहानी जरूरत की पूर्ति करता था। मैं उस अर्थ में मार्क्सवादी कभी रहा भी नहीं जिस अर्थ में मेरे प्रगतिशील दोस्त रहे हैं, मसलन, चौहान और राजीव सक्सेना। मुझे पार्टी के लोगों ने उस रूप में कभी गम्भीरता से नहीं लिया, उनके यहाँ शायर और लेखकों का एक अलग खाना था जिसमें मुझे रख दिया गया था…बहुत कुछ अनरिलायबुल…पर हाँ, मार्क्सवाद मेरी जरूरत थी, सच्ची जरूरत, उसने मुझे मार्बिड और रुग्ण मन स्थिति में, जिसमें कि मुझे डर था कि पड़ा रह कर मैं बिलकुल ही डूब जाऊँगा, सपाट हो जाऊँगा, मुझे उबारा। मार्क्सवाद का जनवादी रूप, उसकी जनवादी आकांक्षा हमेशा मुझे आकर्षित करती रही—बुनियादी तौर पर मुझे हर वह चीज आकर्षित करती है जो मुझसे, मेरी प्रकृति से भिन्न हो, क्योंकि मुझे लगता है कि इस तरह मेरी अपनी कोई कमी पूरी हो रही है उस दूसरे में…मैं जो नहीं हूँ और जो होना चाहता हूँ, इसके संघर्ष में पड़ने और उस संघर्ष का सब जोखिम उठाने के सिवाय मेरे पास एकमात्र रास्ता यही था कि मैं अपने रुग्ण और मार्बिड एहसासों के अँधे कुएँ में हमेशा के लिए गिर जाऊँ…इसीलिए मैं कहता हूँ मार्क्सवाद और मेरे आदर्शवादी स्वभाव में कोई अंतर्विरोध नहीं।"

मार्क्सवाद ने शमशेरजी को चाहे उस अँधे कुएँ से भले निकाल लिया हो, पर उनकी असुरक्षा भावना को दूर न कर सका, क्योंकि मार्क्सवाद ने उनके सिर्फ एक जिन्दा हिस्से को अंगीकार करना चाहा, उनके सम्पूर्ण को नहीं। स्वत्व का सम्पूर्ण दान करने को उठा हुआ हाथ अधर में ही उठा रहा—"इनसान रोटी पर ही जिन्दा नहीं : इस सच्चाई

को और किसने अपनी कड़वी मुस्कराहट-भरी भूख के अन्दर महसूस किया होगा एक तपते पत्थर की तरह, भुवनेश्वर जितना कि तुमने !"—ये काव्य पंक्तियाँ १६५५ में लिखी गयी थीं और शमशेरजी 'भुवनेश्वर' की जगह 'शमशेर' भी लिख सकते थे।

ऐसे असम्भव आदर्शवादी का इलाज क्या कविता हो सकती है ?— वह कविता, जिसके लिए शमशेर छठी जमात से ही अपने 'वन ट्रैक माइंड' के साथ दीवाने रहे ? "मैंने इतनी मेहनत की है, इतनी मश्क, कविता के मर्म को और शब्द-शब्द को समझने, साधने की—इस शिद्दत के साथ, कि लगता है मैंने कविता के सिवाय कुछ किया ही नहीं है···हाँ साब ! इतना अभ्यास था मुझे छन्दों का कि मैं इम्तहान में अँग्रेज़ी के पर्चे गद्य के बजाय छन्दोबद्ध पद्य में ज्यादा आसानी से कर सकता था···उर्दू, हिन्दी और अँग्रेज़ी में समान रूप से मैं छन्द रचना करता था ··" 'यह जो स्वर में उत्साह और उल्लास की कौंध एकाएक बिखर-बिखर पड़ रही है क्या वह एक कवि के अपने माध्यम पर अधिकार के सहज दर्प को ही ध्वनित करती है ? केवल रूप तन्त्र के सजीव अंकन के अपने हुनर का ही बखान करती है ? क्या शमशेरजी ने अपने असम्भव आदर्श को कम से कम एक बार तो अपनी काव्यकृति में पा लिया है, रूप-अभिव्यक्ति के स्वनिर्मित 'टाप लेवल' की कसौटी पर खरे उतरे हैं ? और यह उत्साह और भोला गर्व उसकी स्वीकृति है ?''' 'मैंने काव्य के इतने विविध रूप प्रकारों में, सम्पूर्ण भीतरी अर्जेंसी के साथ सफल ढंग से काव्य-रचना की है कि मैं समझता हूँ कि मेरे समवयस्कों में से किसी ने न की होगी ···" क्या यह उस मौन उपलब्धि पर उनकी मुखर तस्दीक है ?

पर इस निर्मम काव्य-शिल्प का नियम-बन्धन शमशेरजी ने क्यों अपनाया ? क्या यह अपनी असुरक्षा को, कवि के सच्चे अंत मर्म से बेपरवा और भौतिक-मूल्यों की लललराहटों में चटखारे लेती दुनिया की बेबाक और क्रूर नज़रों से, ढँक मूँद कर खुद को आश्वस्त करने, नहीं बल्कि उस आश्वस्ति में काव्य-मूल्य के कुछ दुर्लभ रतन पा लेने की, कामना नहीं थी ? शमशेर का आकर्षक शिल्प-बन्ध लोगों को धोखा देने में कितना कारगर सिद्ध हुआ है ! अपनी दुखती सच्चाई के ऊपर जो एक रंगारंग पर्दा शमशेर ने खींचा उस पर आलोचकों ने लिखा 'एक विशिष्ट कवि', और मानो बहुत-सी ज़हमतों से छुट्टी पा ली। नामवर को भी (एक प्रगतिशील मार्क्सवादी हमसफ़र से दाद पाने की इच्छा क्या अस्वाभाविक थी ?) "मुझमें सिर्फ़ बिम्ब और काव्य-शिल्प और प्रतीक ही मिले · विचार नहीं, भाव (इमोशन) नहीं, सिर्फ़ अकेली कल्पना···अनुभूतियाँ भी इन्हें मेरी सीमित प्रकार की दिखीं हालाँकि ईमानदार ··मानो वे कह रहे हों कि भई बस, इससे आगे मैं आपको डिफेंड नहीं कर सकता, क्योंकि हैं आखिर में आप व्यक्तिवादी ही, सामाजिक-यथार्थवादी तो नहीं।"···

ये दो साँचे हैं जिनमें आलोचकों ने गाहे-बगाहे उन्हें फिट करना चाहा है। उत्कृष्ट शिल्प-तन्त्र और सामाजिक यथार्थवाद। शमशेरजी को अपने आलोचकों से शिकायत नहीं है क्योंकि उन्होंने खुद ही अपने को इन साँचों में फिट करना चाहा है। एक साँचे का आग्रह भीतरी बनावट की विवशता है, दूसरे का अपने व्यक्तित्व की पुकारती हुई-

सी मांग—अपने 'स्व' को वृहत्तर 'पर' से जोडने की अनिवार्य सजगता। पर शमशेरजी से कहो कि दोनो सांचो मे एक साथ फिट होना आपका फिर वही असंभव आदर्शवाद है तो पहले तो वे पुराने उस्तादो की बानगी पेश करेंगे, मसलन शेक्सपियर, तुलसीदास वगैरह; फिर अपनी 'नर्वस शक्ति' की सीमा देखते हुए बेबसी के एक स्वीकार के साथ कहेंगे कि भई, मै तो कवि हूँ और कवि का यह आदर्शवाद पालने का मुझे अधिकार होना चाहिए। वे कह रहे हैं"···दरअसल जो मेरे संस्कार हैं, जो मेरा अनुभव है वे तो जड की तरह काम करेंगे ही और इन्ही से मेरी कविता फूटेगी, लामुहाला···पर मै कोई अनकाशस पौधा तो नही हूँ, मै एक सजग संवेदनशील बाहरी प्रभावो को ग्रहण करने के प्रति उन्मुख पौधा हूँ। अत. मै कभी-कभी जानबूझकर सजग तौर पर अपने को बीमार और मार्बिड से हटाकर शुभ और स्वस्थ की तरफ मोड़ूंगा—रामविलास की आलोचना यही मेरी मदद करती है। मै उससे सहमत नही होता हूँ, हर कही, पर यह जरूरी नहीं है···मै उनकी आलोचना के प्रकाश मे अपनी कमजोरी को दूर करना चाहूँगा। अपने को तटस्थ ढग से उन अँधेरे अस्वस्थ सस्कारो से दूर करना चाहूँगा···मेरे निकट रामविलास की आलोचना यही रोल अदा करती है···क्योकि मै कवि होने के साथ-साथ एक नागरिक भी हूँ और मै अपने नागरिक के उत्तरदायित्व पर अपने कवि को आडे नही आने देना चाहता···पर उन तमाम कलाकृतियो का रसास्वादन करने से भी मै अपने को रोक नही सकता जो इस मजरिये पर सरी नही उतरती···मिसाल के लिए रामविलास को मेरी 'टूटी हुई बिखरी हुई' कविता अस्वस्थ मन स्थितियो की उपज लगी थी···आमतौर पर वे मेरी कविता के कटु आलोचक रहे हैं···पर मै उस कविता को इस बिना पर रद्द नही कर सकता अगर वह सच्ची कविता है तो।"

शमशेरजी मे कहाँ कवि की सीमा खत्म होती है और नागरिक की सीमा शुरू हो जाती है और फिर कहाँ नागरिक की खतम होकर कवि की शुरु हो जाती है, इसका पता लगाने की चेष्टा व्यर्थ है। यह मानो स्वप्न शिशु को यथार्थ की ठण्डी उँगलियो से छूना होगा।

मैने पूछा · शमशेरजी आपने कविता से क्या पाया ?

शमशेरजी ने कहा, "कविता के माध्यम से मैने प्यार करना—अधिक से अधिक चीजो को प्यार करना—सीखा है। मै उसके द्वारा सौन्दर्य तक पहुँचा हूँ। मेरी चेतना इतनी, कह लो कि कडीशड हो चुकी है, कि हर चीज मे मुझे एक अत सौन्दर्य दिखायी देता है, बिना किसी अतिरिक्त काशस प्रयत्न के, सौन्दर्य का पूरा एक कम्पोजीशन··· दृश्य जगत पहले मेरी नजर मे सौन्दर्य के एक कम्पोजीशन के रूप मे ही आता है···मै उससे प्रभावित होता हूँ···काव्य की कुछ उपलब्धियाँ निगेटिव मूल्य के रूप मे होती हैं, समझ लो कि यह बरबस सौन्दर्य के एक खाके म अपने को अनायास महसूस कर लेना मेरी कविता की वही निगेटिव उपलब्धि है।"

मै और वह आदर्शवाद ?

शमशेर : "उसके कारण मैने हमेशा जीवन के शुद्धतर मूल्यो को ही अपनाया,

दुनियावी मूल्यो को नही "इससे मैं मनुष्य के भीतर ज्यादा गहराई के साथ उसके मनुष्यत्व तक पहुँच सका, उसे सार रूप मे ग्रहण कर सका। सासारिक मूल्यो से असपृक्त और बेलौस रहने के कारण मैं कही अधिक तटस्थता से व्यक्तियो और चरित्रो का विश्लेषण कर सका, मैने अपने अहम् को इसमे कभी बाधक नही बनने दिया'''इस आदर्शवाद की वजह से ही मैं दूसरो को उतनी सहानुभूति दे सका जितनी कि स्वय अपने को भी न दे सकता था ' शायद यही मेरी कमजोरी भी रही'''मैं जल्द दूसरो से प्रभावित हो जाता हूँ'' मैं अपने साथ पूरा न्याय नही कर पाता'''"

एक गहरा मौन जो किसी स्मृति के बोझ से भारी नही है, लग रहा है कि समय की भौतिक धारा से मुक्त कोई क्षण अपने अतीत की जडो को टटोल रहा है—जीवनवृत से टूटकर गिरी किसी मर्म की पखुडी को पुन डाल से जुड जाने का आह्वान कर रहा है, "मैं समझता हूँ मेरी कविता, और जीवन भी, बिलकुल बेकार नही गये'''मैं अपने सेंटीमेंट्स को भी एक मूल्य प्रदान कर सका'' मैंने उन्हे किसी व्यक्ति या वस्तु से नही बाँधा'''शायद मैंने प्रेम से नही, प्रेम के आदर्श से प्रेम किया है'' पर प्रेम की इस भौतिकता से मुक्त होकर मैं सबका स्नेह पा सका, दे सका'''यह कम तो नही ?"

शमशेरजी मे यही छिपा हुआ वह क्षण है, काव्य-कला के रस से पुष्ट, जो सहसा जीवित हो उठता है'''क्या वे जिस सम्भव को असम्भव बनाकर बाज़ी खत्म कर चुके थे वह फिर शुरू हो रही है और वे असम्भव को सम्भव बनाने की नये सिरे से तैयारी कर रहे हैं ? अभी उनके हौसले कम नही हुए हैं, चाहे आँखों की पावर माइनस-१६ तक भले पहुँच गयी हो।

०० ०० ००

चाय पी चुकने के बाद उनका चेहरा रवे की तरह भरभरा आया था। कोट को चारो ओर से सकेलते हुए कुर्सी पर पालथी मार कर वे इत्मीनान की मुद्रा मे आ गये। दोनो हाथ की उँगलियो को बालो मे तेज़ी से रगडते हुए मालिश जैसी की, कनपटियो को मला, चश्मा उतार कर आँख के पपोटो पर हथेली फिराई। फिर चश्मे को ठीक कर नाक के ज़रा नीचे मुशियाने ढग से रख लिया। तब सिर को ज़रा-ज़रा सा इधर-उधर हिलाया मानो चेहरे पर भरभरा आये रवो को परत-दर-परत एकसार जमा रहे हो।'''

भाषा की चर्चा छेडने पर शमशेरजी खुश हो जाते है। बाहर की दो-तीन ज़बानें सीख लेना, इतना कि उनका साहित्य मज़े मे पढ-समझ सकें ' और दो-तीन भारतीय भाषाएँ, यह उनकी महत्वाकांक्षा रही है। धुन चढने पर कई-कई बार यूनानी, रूसी और स्पेनी पढनी शुरू की, अपने ढग से उनमे कुछ दखल भी हासिल किया, पर यह वह सिलसिला था जिसका कोई सिलसिला नही। सस्कृत का भी यही हाल रहा—दामोदर सातवलेकर की चौबीस खण्डो वाली सस्कृत-पाठमाला के ग्यारह-बारह सोपान एक-एक कर चढ गये, फिर उनके 'डिप्रेशन' ने उन्हे घेर लिया'''भाषा का विधिवत् और सम्पूर्ण अध्ययन करना शमशेर जी का इष्ट भी नही, इष्ट हो भी तो वे इसे अपने शायराना मिजाज पर हावी नही होने देना चाहते। कहते हैं, "भाषा का अध्ययन मुझे भाषाशास्त्रीय दृष्टि से नहीं करना

है, हालांकि करूँ तो वह एक उपयोगी कार्य होगा,…मुझे तो इस अध्ययन से एक कवि के नाते भाषा की जड़ों को महसूस करने मे सहायता मिलती है, शब्दों के आदि रूप, उनकी मूल ध्वनियाँ कैसे हमारे मन-मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं उन्हें क्रिया-प्रतिक्रिया के एक विशेष साँचे मे ढालती हैं—इसका अध्ययन बहैसियत एक कवि के सचमुच कितना लाजिमी है… ज़रा आप शब्दों की जड़ों तक जाइये, आप एक-दूसरे ही सौन्दर्य मे डूब जायेंगे…कैसा अद्भुत नियम काम करता है उनके पीछे! और इसका असर अनजाने भी हमारे संस्कारो पर पड़ता है…यह सब कुछ एक कवि-कलाकार ही देख सकता है, एक भाषाशास्त्री नही …भाषा का जो भी थोड़ा-सा अध्ययन मैंने किया है उससे मुझे विभिन्न भाषाओ के भीतर एक एकरूपता-सी दिखाई दी है, उनकी बुनियादी बनावटो मे कोई लम्बा-चौड़ा अन्तर नही है। और उन्हें समझने मे लिपि कोई बाधा नही बन सकती, क्योंकि बहुत सी परस्पर भिन्न दिखने वाली लिपियाँ, जरा ध्यान से देखें तो, अपने सरल मूल आकारो मे आपस म काफी मिलती-जुलती हैं… "

तो भाषा भी शमशेरजी के लिए कविता है, सिर्फ एक माध्यम नही। और कविता भी कैसी? जिसमे बहते-बहते वे संस्कृति—नही, संस्कृतियों के उद्गम तक पहुँचने का उपक्रम करते है। उनकी 'चीन' शीर्षक कविता जिसे लिखने मे उन्होंने पूरे दो साल लगाये, ऐसे ही किसी भाषा-उदात्त उपक्रम की उपज होगी। और शायद यही वह बिन्दु है जहाँ से शमशेरजी तेज़ी से अमूर्त्तन की दिशा में बढने लगते है। तब भाषा अनुभूति को यथार्थ करने का नही, अनुभूति को अतिक्रमित करने का साधन बन जाती है—वे अपनी अनुभूतियो में दिक् खण्डो के अन्तराल महसूस करते हैं, एक निस्सीम खुलापन, जिससे जब वे अभिभूत होते हैं तब 'मौन' होते है। उनकी कविताओ मे शब्दों के बीच-बीच म आये विशाल दिक्-खण्ड अनुभूतियो के बीच के वे ही अन्तराल हैं, जिनसे अधिक से अधिक लगाव महसूस कर वे मानो अपने को अधिक से अधिक खोल पाते है। यह उनका वही अपना ढग है—जब शमशेरजी अपनी जटिल-बोझिल अनुभूतियो के दबाव को कभी सरलता के आकाश म तिरा देते हैं और कभी मौन की नीद मे सुला देते हैं।

सौन्दर्य की भाषा का उनका जो आदर्श है उसकी अभिव्यक्ति उनके मौन म ही हो सकती है। पर उनकी काव्य-भाषा का यह आदर्श नही। अज्ञेय ने उन्हे भले 'कवियो का कवि' बताया हो, स्वय शमशेर की आकांक्षा हमेशा जनता का कवि बनने की रही है —बिना कला की उच्चतम शर्तों से समझौता किये हुए। और जनता का कवि वही बन सकता है जो जनता की भाषा मे—उसकी बोलचाल के सहज, सरल, प्रवाहयुक्त, मुहावरो वाली भाषा में—अपने मर्म की बात रखे। शमशेरजी हिन्दी की खड़ीबोली म ऐसी भाषा का आधार उर्दू मानते हैं। उनका कहना है कि खड़ी बोली का बुनियादी ढांचा उर्दू पर ही खड़ा है—"पश्चिमी उत्तरप्रदेश के गाँव की बोलचाल की भाषा देखिए, और यही पछाहीं इलाके तो दरअसल खड़ी बोली के इलाके है, तो आपको उसमे उर्दू की सी ही सादगी और प्रवाह मिलेगा। वह उर्दू अदबी, फसीह (कटी-छँटी-परिष्कृत) और मजलिसी तकल्लुफ की भाषा न होकर आम बोलचाल की भाषा है। खड़ी बोली का स्वभाव उर्दू

वा है, सस्कृत का नही ''अधिकाश हिन्दी के लेखक कवि आज जो भाषा इस्तेमाल करते हैं उसका रग कितना फीका-फीका सा लगता है, उसमे वह रचाव नही, न वह बोलचाल के ठेठ मुहावरो की पकड जैसे कि हम स्टैण्डर्ड उर्दू मे पाते हैं। इस कमी को उर्दू के अध्ययन से काफी कुछ दूर किया जा सकता है। उर्दू जो फासले तय कर चुकी है उसे हिन्दी भी उर्दू के अध्ययन से अपने यहाँ ला सकती है'''पर हमारे यहाँ शुद्धतावादी सस्कार इतने तगडे हैं कि उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानकर छुट्टी दे दी जाती है ''हाँ, देखो न, त्रिलोचन तक की भाषा इस दोष से मुक्त नही है। जरा गहराई से उनकी भाषा का रस लेने लगो कि उसके पलस्तर अपने आप उखडने लगते हैं, उसके जोड-जोड स्पष्ट हो जाते हैं—वह गालिब वाला सानेट ही देख लो।'''त्रिलोचन मे आम जन-बोलियों की जमीन की अच्छी पकड है, पर रचाव की कमी है, कारण उनके शुद्धतावादी सस्कारो का आग्रह और उर्दू के बाकायदा अध्ययन की कमी ''।

"मेरे भीतर भी कुछ छायावाद के प्रभाव से यह आग्रह बडे प्रबल रहे हैं—मेरी भाषा तत्सम शब्द-पूर्ण, समास-युक्त और जटिल अर्थगुम्फित, असहज रही है। पर मुझ पर छायावाद के साथ-साथ उर्दू कवियों का—इकबाल और गालिब का—भी बराबर असर रहा है, जिसने छायावादी भाषा-सस्कार को मुझ पर हावी होने नही दिया और मेरी बाद की कविताओ की भाषा ज्यादा सहज, सादी और प्रवाहपूर्ण होती गयी।"

इस दृष्टि से तो निराला खडी बोली के मूल स्वभाव से बिलकुल ही अलग-थलग पड जाते हैं ?'''

"हाँ, शुरु की कविताओ मे, अधिकाश कर। पर बाद मे 'महगू महगा रहा' जैसी कविताओं म निराला ने खडी बोली के स्वभाव के अनुरूप अपनी भाषा सादी सहज और बोलचाल की रिद्म के निकट और काफी कुछ मुहावरेदार रखी है'''

"'''भाषा के सम्बन्ध मे हरेक का अपना आदर्श होता है, मेरा भी एक है'''मैं शायद दूसरो पर भी यह आदर्श आरोपित करता रहा हूँ। त्रिलोचन और दूसरे तमाम हिन्दी लेखको के सम्बन्ध मे मेरा रवैया शायद मेरा उन पर अपना वही आदर्श आरोपित करना है। पर अपने लिए जीवत भाषा को उसकी स्वाभाविकता मे पकडने का मेरा आदर्श रास्ता यह है कि मैं खडी बोली वाले इलाको के जन-जीवन के बीच रह कर उनकी बोल-चाल के सहजो, तौर-तरीको, मुहावरो और अभिव्यक्ति के ढग को अपने भीतर जज्ब करूँ'''उन सबके लिए अपने कान खुले रखूँ। पर यह आँचलिक होना नही है जो कि एक फैशन के रूप मे चल पडा है। मेरा आग्रह जन-बोलियो के सस्कार ग्रहण करने पर है उनके अनुकरण पर नहीं—ज्यों का त्यो प्रयोग करने पर तो भाषा सपाट होगी। एक सच्चा कवि जन-भाषा की बुनियादी बनावट की रक्षा करते हुए उस सपाटता से बच सकता है ''इसके लिए काव्य म रेह्टरिक का इस्तेमाल और प्रभाव के लिए भाषा को तोडा-मरोडा जा सकता है'''शेक्सपियर की भाषा का बुनियादी ढाँचा भी बोलचाल की लय का ही है, उसने इसी ढाँचे पर अपने भाव-गुंफन आरोपित किये हैं। उसकी जटिलता भाषा की मूल बनावट की नहीं—जैसे कि मिल्टन मे है—बल्कि उस पर, गुंफित

अनुभूतियो की है, विचारो की गूढता की है…"

शमशेरजी ने इधर एक कविता लिखी है—'प्रेम की पाती बसंता के नाम', इसे वे अपने इधर की कविताओ मे एक उपलब्धि मानते हैं। "इससे मुझे बहुत सन्तोष है। जैसी कविता मे लिखना चाहता रहा हूँ उसे देखते हुए मैं इसे ५० परसेण्ट नम्बर दे सकता हूँ।" क्यो ? "इसलिए कि इसमे जन-बोली के खास लबो लहजे मे अपनी बात कही गयी है।" पर एक चीज और है, यह शमशेरजी के चिर परिचित अन्तर्मुख गहरी हताशा की कविता नही, बल्कि आजकल के सामाजिक वैषम्य पर एक करारे व्यग्य के मूड मे लिखी गयी आब्जेक्टिव कविता है। क्या डॉक्टर रामविलास शर्मा की आलोचना सचमुच रग ला रही है ?—"मैं जान बूझ कर और सजग तौर पर अपने को अँधेरे और अस्वस्थ पक्ष से शुभ और स्वस्थ पक्ष की तरफ मोडूँगा"—शमशेर ने कहा था।

शमशेरजी अपने भीतर से बाहर की ओर आ रहे हैं, आना चाहते हैं, पहले शिल्प के पथ से, बाह्य रूपाकार के सहारे—"कविता की एक विधि वह है जिसमे कविता का फार्म ही कवि को कविता के भीतर खीच लेता है"(शमशेर)। पर उनके भीतर और बाहर के बीच जो एक दरार है क्या वह बाह्य प्रेरणा, चाह या सजग शिल्प से मूँदी जा सकेगी ?

भीतर से बाहर आने की कोशिश शमशेरजी मे नयी नही है। बल्कि उनके भीतर हमेशा से एक बाहर वर्त्तमान रहा है—कभी व्यक्ति के रूप मे, कभी भाषा और भाव-सत्य के आदर्श के रूप मे, कभी बाह्य सिद्धान्त के रूप मे। यह बाहर वही यह 'दूसरा' है जिसकी तलाश शमशेरजी अपने भीतर की किसी कमी को पूरा करने के लिए करते रहे हैं। इस 'दूसरे' के दायरे मे व्यक्ति रूप म जो आये वे वे थे जिन्होंने किसी बड़े मूल्य के लिए अपना उत्सर्ग किया, जो कला के प्रति सच्चे तौर पर पूरी तरह समर्पित रहे, जैसे निराला, कामरेड भारद्वाज, सुभद्रा कुमारी चौहान, माई, सुरामा, वगरह। अपनी गूढ-भाव शक्ति को जिस भाषा शैली मे अभिव्यक्त करने का आदर्श शमशेर ने अपने लिए निर्धारित किया उसका एक प्रारूप—एक ग्यारह सूत्री कार्यक्रम की शक्ल म—उन्होंने अपनी १९४५ की डायरी मे दर्ज किया था। 'कल्पना' के अप्रैल '५८ अक मे प्रकाशित उस कार्यक्रम के तीन मुद्दे ये थे—१ जिसको सब समझ लें, एकदम, आसानी से, आँख पडते ही। २ जिस को पढकर सब कहें—कि बात सोलहो आने खरी है। ३ जो एक अपढ तक भी पहुँच जाये जल्दी। बाह्य सिद्धान्त के आदर्श के रूप मे मार्क्सवाद का जनवादी पक्ष था ही—अभी भी किसी न किसी रूप मे है। शमशेरजी की साँसत और सघर्ष उस बाहर को अपना लेने को लेकर नही—आदर्श को सच कर देने को लेकर नही—बल्कि अपने भीतर को नष्ट न होने देने को लेकर है। वे बाहर को भी भीतर की ही शर्त पर चाहते हैं क्योकि भीतर ही तो उनका वह कला विवेक निवास करता है जो उनको बाह्य मोर्चे पर हर शिकस्त मे उन्हें टूटने बिखरने नही देता। यही कला विवेक पार्टी के अनुशासनात्मक निर्देशो की अवज्ञा करने की उन्हें सामर्थ्य देता है, यही उन्हें किसी भी वाद या फैशन या शैली के सीमा बन्धन को दृढतापूर्वक अस्वीकार कर देने का आत्म-विश्वास देता है; यही उनके काव्य व्यक्तित्व को सुरक्षात्मक कवच प्रदान करता है।

शमशेरजी यदि किसी से जीते हैं तो इसी भीतर के कारण यदि किसी से हारे हैं तो उस बाहर के कारण। पर वे अपनी हार को जीत म बदलने का सपना सजोये हुए हैं। उनकी हार भी दो टूक दीली वाली हार नहीं है कि वे बिसात एकबारगी ही उलट दें। उनकी हार मे एक ऐसी करुणा है जो हर कोशिश की विफलता के क्षण को एक उदात्त फ्रेम मे कस देती है विजन न सही विजन प्राप्ति का एक आह्वान ही सही एक प्रतीक्षा, और यही शमशेरजी के अमूर्त्तन का क्षण है—अनत और मौन उस क्षण की सहज और सादी और प्रवाहपूर्ण भाषा है।

आसमान म हल्के भूरे-स्लेटी रग के बादल—बल्कि बादल भी नहीं, आसमान का हल्का, नरम, चिकना भूरा स्लेटी रग शमशेरजी की मन स्थिति को यह बहुत अच्छी तरह व्यजित करता है। क्या इसम उनकी करुणा का वही रग नुमायाँ होता है? शमशेरजी उस आसमान को देखते हैं गोया अपने आपको दखते हैं एक असपृक्ति, एक उत्सग, या दोना साथ-साथ—"काश कि मैं न होऊँ/न होऊँ,/न होऊँ /तो कितना विस्तार/ किसी पावन विशेष सौंदर्य का / अवतरित हो।" जरा गौर से देखिए, ये शब्द मिटने की चाह का उतना नही जितना मिट न पाने की करुणा का इजहार करते हैं।

शमशेर मे आसमान की सत्ता एक प्रतीक भर नही है। मुक्तिबोध ने कहा था, शमशेर की चित्रकला और कविता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आसमान दृश्य जगत रग —शमशेर की कविता का वही दूसरा पहलू है। चित्रकला का माध्यम कभी वे शब्द चुनते हैं कभी रग और कूची। शमशेरजी का कहना है कि शुरू से ही उनमे कविता के साथ-साथ चित्रकारी की ओर जबरदस्त रुझान रहा है—इतना जबरदस्त कि एक समय म तो यह तय करना उनके लिए मुश्किल हो गया था कि वे चित्रकार बनें कि कवि। भावनाओं की गुत्थियाँ, जब कभी शमशेरजी शब्दो द्वारा न खोल पाते होंगे तब रगो का सहारा लेते होगे क्योकि शब्द एक सीमा तक ही अमूर्त हो सकते हैं, जबकि रग प्रकृति से ही अमूर्त्तन क माध्यम हैं। कविता की तरह रगो का अभ्यास भी सिर्फ अपने लिए था, इस बात की उम्मीद न थी कि कोई उन्हे सराहेगा, न ऐसी कोई चाह ही थी उनके मन म। कविता की तरह चित्रकारी भी उनका सुरक्षात्मक कवच बन गयी थी जिसके भीतर उनम रगो के बुलबुले, अनुभूतियो के बुलबुलो की तरह ही खामखाह फूटते रहते थे पर चित्रकार शमशेरजी नही बन पाये, "पर मैंने अपनी चित्रकारी के शौक को कविता म काफी पूरा किया मैंने चीजो को अक्सर पेंटिंग की शक्ल म ग्रहण किया है, भले ही उनका कोई बाह्य रूपाकार न हो, रग न हो, पर रगो के प्रभाव उनमे हैं—रगो के भावात्मक रूप। मेरी कविताओ म जो इम्प्रेशनिज्म की बात कही गयी है वह यही है—मैंने मन पर पडने वाले प्रथम प्रभाव को ज्यो-का त्यो यत्नपूर्वक शब्दो म ट्रासफर करने की कोशिश की है। पर असल म कविता और चित्रकला दोना ही बडी ईर्ष्यालु कलाएँ हैं, एक-दूसरे स भिन्न स्वभाव वाली। एक दृश्य-कला है, दूसरी शब्द कला। उनका एक साथ निर्वाह मुश्किल ही है जब तक कि कोई बहुत बडी प्रतिभा न हो मैं समझता हूँ मेरे भीतर दोना ने एक-दूसरे को नुकसान ही पहुँचाया है।"

अलग दुनियाएँ है—कहाँ वह सर्जनात्मक उर्जा मे तनी हुई, अपने भीतर की गत्यात्मकता से चालित आत्मनिर्भर दुनिया जिसका प्रत्येक रचनात्मक स्फोट साहसिक और पौरुषपूर्ण होता था, और कहाँ यह मम और ममेतर की बारीक जालियो-बुनी, मानव-अनुभूतियो को नसो मे धड़काती नही दिमाग मे सोचती और सोच-सोच कर विरक्त और फीकी होती जाती हुई दुनियां। पर अपने आप मे अलग-अलग इन दुनियाओ को सच मान लें तो फिर उस तीसरे अज्ञेय की खोज कैसे होगी ?—जो निश्चय ही है, इन्ही दो दुनियाओ मे कही छिपा हुआ।

अज्ञेय ने अपनी पहचान जब जितनी और जिस रूप मे करानी चाही उससे ज्यादा की सहूलियत पाठक को नही दी। अपने स्वरूप को उन्होंने सदा अपनी मुट्ठी मे रखा और हालांकि अपने कृती-जीवन के प्रारम्भ से ही वे आत्मदान की आकांक्षा और वैसा न कर पाने की पीड़ा से ग्रस्त रहे, उन्होंने अपने विकास के हर चरण पर अपने को सुरक्षित रखा। उन्होने दूसरो का आत्मीय बनने की चिन्ता नही की। यदि कोई स्वय उन्हे अपना आत्मीय बना सके तो वह भी उनकी शर्त पर ही वैसा बना सकता था। यही अज्ञेय की अद्वितीयता थी। और यह अद्वितीयता उन्होंने एक गम्भीर ऐतिहासिक दायित्व *के काल मे अर्जित की थी।*

डॉ० रामविलास शर्मा ने अज्ञेय की दुनिया को एक सुरक्षित दुनिया कहा है। पर वह यह कहना भूल गये है कि यह सुरक्षित दुनिया केवल अपने आपके लिए निर्मित दुनिया नही थी, बल्कि यह दुनिया अपना आत्मविस्तार करती जाने वाली और उस आत्मविस्तार मे दूसरो के लिए बहुत कुछ अमूल्य बटोरती जाने वाली सुरक्षित दुनिया थी। आत्मरक्षा और आत्मविस्तार, अज्ञेय की काव्य चेतना के दो मूल पक्ष हैं। इन दोनो के बीच एक तत्त्व और भी है आत्म-निर्माण। यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय *के काव्य-व्यक्तित्व का यह ग्राफ बहुत कुछ प्रयोगवाद-नई कविता-काल की सृजनात्मक* प्रवृत्तियो का भी ग्राफ रहा है।

छायावाद पर और चाहे जो भी आरोप लगाये गए हो, उस पर काव्य-सस्कृति, जो भाव-वस्तु और भाषा-चर्या दोनो मे ही प्रकट होती है, की अनुत्तरदायित्वपूर्ण अवहेलना का आरोप इसके विरोधियो ने भी नही लगाया। अज्ञेय ने काव्य सस्कृति के प्रति निष्ठा का सस्कार मूलत छायावाद से ही प्राप्त किया। अब काव्य सस्कृति के इस सस्कार को इस सदी की तीसी-चालीसी के उस साहित्यिक माहौल के बीच रखकर देखिये जो कि देश की चिन्ता धारा म एक जबर्दस्त उथल पुथल का काल था। जैसे कि धरती करवट लेती है, एक नया यथार्थ करवट ले रहा था। बहुत कुछ टूट रहा था, टूटना जरूरी था, पर इस टूटने मे एक ऐसा घोर अविवेक भी शामिल था जो आगामी नव-निर्माण के लिए कुछ भी बचा रखना न चाहता था। वह सब इतिहास यहाँ दोहराने की जरूरत नही, पर 'त्रिशकु' के निबन्धो पर एक नजर डालिए तो अज्ञेय के व्यक्तित्व के आत्मरक्षात्मक तत्त्व का कारण स्पष्ट हो जायेगा। 'त्रिशकु' के निबन्ध विचार पक्ष मे इलियट और भाव पक्ष म डी एच. लारेंस की छाप रखते हुए भी इस बात का पर्याप्त

सबूत देते हैं कि साहित्य क्षेत्र मे कला मूल्यो की रक्षा की लडाई अज्ञेय लगभग अकेले लड रहे थे। पर यह लडाई भी अज्ञेय अपनी ही शर्तों पर लड रहे थे, यानी बिना अपना कला-विवेक खोये। यह बात अब कुछ आश्चर्यजनक-सी लगती है कि अज्ञेय के विरोधियों ने उन्हें परम्परा द्रोही करार दिया, जबकि अज्ञेय मे परम्परा से अपने को सार्थक ढग से जोडने की उस समय सबसे अधिक ललक दिखायी देती है। परम्परा के वास्तविक जीवन्त अर्थ की नयी व्याख्या द्वारा ही अज्ञेय उस साहित्यिक अराजकता के माहौल का सचेत प्रतिकार कर सकते थे, कविता की उखडती हुई जडो को पूर्णत विच्छिन्न हो जाने से रोक सकते थे।

अगर कोई सवाल इस सन्दर्भ म उठ सकता है तो वह यह कि वह कौन-सी परम्परा थी जिसकी अज्ञेय रक्षा करना चाहते थ ? निश्चय ही वह वर्ग-चेतना पर आधारित जुझारू जन-परम्परा नही थी। जातीय जन-परम्परा के नाम पर जिस गर्मजोशी से कला-मूल्यों को राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक कार्यक्रमो की बलिवेदी पर न्योछावर किया जा रहा था वह अज्ञेय को बिदका देने के लिए काफी था। अज्ञेय का आभिजात्य अगर कही था तो वह यही था। वह जिस परम्परा के रक्षक थे वह वर्ग-भेद से ऊपर, उदात्त मानव-परम्परा थी जिसका सास्कृतिक आधार छायावाद मे निबद्ध था। अज्ञेय ने इस परम्परा पर ही अपने आगामी नीड निर्माण की नीव रखी। उनकी लडाई परम्परा के उस मूलाधार और उस पर नीड-निर्माण की सम्भावनाओ की रक्षा की लडाई थी। इसीलिए उनके सघर्ष म एक तत्त्व निषेध का भी है। उनके निषेध ने उनकी कला को चयनधर्मी बनाया। अज्ञेय की 'तथ्य' और 'सत्य' की स्थापनाएँ इस चयनधर्मी कलादृष्टि से ही उपजी स्थापनाएँ है। अज्ञेय का सघर्ष 'तथ्य' के अज्ञात सदिग्ध समूह मे न उलझ कर चुपचाप 'सत्य' के चमकते कण बीन लेने की मानसिक तैयारी का सघर्ष था। उनके सामने नव-निर्माण का अर्थ 'तथ्य' का निषेध और 'सत्य' का स्वीकार था।

'सत्य' के स्वीकार का अर्थ था अपनी भाव-सवेदन शक्ति को ज्यादा-से-ज्यादा गहरा, पुष्ट और व्यापक करते जाना। चूंकि सत्य वह है जो राग-रजित है, इसलिए यह आवश्यक था कि राग-सम्बन्ध स्थापन की प्रणाली अधिक सूक्ष्म, सवेदनशील और परिष्कृत हो। अज्ञेय इसीलिए आत्म-शिक्षण पर इतना बल देते हैं। आत्म शिक्षण—अपनी मूल-प्रवृत्तियो और भाव एव विचारतन्त्र की वैज्ञानिक ट्रेनिंग, जिसमे उनका शोधन, परिहार और परिष्कार सभी मौजूद है—द्वारा ही अनुभूति प्रखर, तलस्पर्शी और व्यापक हो सकती थी। आत्म शिक्षण द्वारा ही परम्परा से सही रूप मे जुडने योग्य पात्रता प्राप्त हो सकती थी। आत्म-शिक्षण से ही काव्य-सस्कृति का नव-निर्माण किया जा सकता था।

इस आत्म-शिक्षण की जिसे आवश्यकता थी वह 'मैं' था। इस आत्म-शिक्षण की जिसे उपलब्धि होनी थी वह भी 'मैं' था। यह आत्म शिक्षण ऐसे 'मं' के निर्माण के लिए था जो 'दूसरे' को दे दिया जाये। दूसरे को दे दिया जाय पर अपनी इयत्ता खोकर नही—जैसे बूँद सागर मे मिल जाती है वैसे नही, जैसे रेत-कण धार मे बह जाते हैं वैसे नही,

बल्कि जैसे दीप किसी पंक्ति को दे दिया जाता है, जैसे नदी का द्वीप नदी के बीच में रह कर धार को दे दिया जाता है। यही अज्ञेय के आत्म-शिक्षण का अन्तर्द्वन्द्व है : वह अपने को दे दिये जाने की सम्पूर्ण कामना से विचलित होते हुए भी अपना आपा बचा रखने की जिजीविषा से पीड़ित है।

पूर्व अज्ञेय में यह अन्तर्द्वन्द्व 'मैं' और 'पर' के तनावपूर्ण सम्बन्ध में है। 'मैं' अपना आत्मदान करना चाहता है पर असमर्थ है, 'पर' दान लेने को उत्सुक है पर यह सम्भव नहीं। सागर और आकाश के बीच की दूरी में अपने पौरुष की पुकार है और फिर उसके खण्डित हो जाने का दर्द है। यह दर्द कविताओं में बसा हुआ है और मार्मिक लगता है, क्योंकि अभी दर्द का दर्दवाद नहीं बना है। पूर्व अज्ञेय की काव्य-अनुभूतियों की सघनता, उनके बिम्बों की मार्मिक अर्थ-व्याप्ति और भाषा का स्वत स्फूर्त ओज 'मैं' और 'पर' के उस तनावपूर्ण सह-सम्बन्ध से ही उपजते हैं। इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों की सत्ता जीवित और प्राणवान है, दोनों अपनी टेक पर अड़े हुए हैं, दोनों एक-दूसरे को चाहना और पाना चाहते हैं, दोनों एक-दूसरे का अस्वीकार करते हैं।

पर वह तनावपूर्ण सह सम्बन्ध अन्तत एक रुद्ध दिशा थी। फिर इस बीच एक पट-परिवर्तन मौन रूप से घटित होता गया था। छायावाद का बचा खुचा सांस्कृतिक शीराज़ा बिखर चुका था, प्रगतिवाद स्वयं तो टूट चुका था पर टूट कर उसने जो द्वन्द्वात्मक गतिशीलता विकसित की थी वह यथार्थ के नये रुझानों में प्रकट हो रही थी। जिस 'अज्ञातकुलशील' जन-समूह में धँसने से अज्ञेय को अपने कलाकार व्यक्तित्व की अस्मिता के खो जाने का खतरा दीखता था वह धीरे-धीरे एक चेहरा और एक नाम ग्रहण कर रहा था। व्यष्टि और समष्टि की इकाइयाँ निषेध के तनाव में नहीं, स्वीकार के सामंजस्य में एक-दूसरे के करीब आ रही थीं। एक नया सन्तुलन बन रहा था। यह वह समय था जब हिन्दी में नई कविता का नेतृत्व अज्ञेय के बाद की पीढ़ी के हाथों में आ रहा था। इस बदले हुए परिदृश्य से अज्ञेय अपने राग-तन्त्र का ताल मेल यदि बिठा सकते थे तो वह उसी आत्म-शिक्षण द्वारा। और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने किसी भी अन्य आधुनिक हिन्दी कवि की अपेक्षा सार्थक ढंग से युग परिदृश्य के साथ अपने राग-तन्त्र का तालमेल बिठा सकने के सामर्थ्य का सबसे अधिक परिचय दिया है। लेकिन इस आत्म-शिक्षण की भी एक सीमा थी।

आत्मरक्षा अज्ञेय के लिए अपने आप में एक स्पृहणीय मूल्य था। नव-निर्माण के लिए यह आवश्यक था कि कविता का जो बीज है उसकी पहले शत्रु-तत्वों से रक्षा की जाये, उस बीज को आत्म-शिक्षण के खाद-पानी से पल्लवित-पुष्पित करने का काम तो आगे की बात थी। कविता का बीज अर्थात् रचनाकार का सम्भावनापूर्ण 'मैं'। अत अज्ञेय की चेतना में प्रारम्भ से ही एक प्रतिरक्षात्मक ग्रन्थि मौजूद रही। दर्प-भरा मदमाता दीप, प्रेमिका के आगे आत्मदान को प्रस्तुत पर अपने आहत अहं के वृत्त में घिरा, मौन में ही अपनी कुल व्यथा व्यक्त करने वाला प्रेमी, सागर से उछली हुई बूँद की दुर्दम जिजीविषा; दर्द से फटी हुई शुभ्र-नीलिम सीपी का महज सकोच पैदा करने वाला रूप

—यह अज्ञेय की सृजन-चेतना के कुछ बुनियादी मुहावरे हैं जो अपने को अन्ततः बचा पा सकने की प्रतिरक्षात्मक मनोग्रन्थि में ही जन्म ले सकते थे।

आत्मरक्षा की अनुभूति को जब तक बाह्य परिवेश से स्वीकृति (सैंक्शन) मिलती रही तब तक अज्ञेय के अन्तर्द्वंद्व का तनाव फलप्रद रहा और उससे नयी कविता की संवेदना का धरातल गहनतर, सूक्ष्मतर और व्यापकतर होता रहा। किन्तु दृश्य-परिवर्तन के साथ भावनात्मक और विचार-शक्तियों का जो नया सन्तुलन सामने आया उसकी पृष्ठभूमि में अज्ञेय दृष्टिकोण की सारी उदारता के बावजूद अपनी मूल प्रतिरक्षात्मक ग्रन्थि में कोई बुनियादी रद्दोबदल नहीं कर पाये। आत्मरक्षा पहले एक सृजनात्मक चुनौती थी जिसे कवि असंवेदनशील संसार की ओर फेंक सकता था। वह एक दर्प की अन्त शक्ति थी अपने सृजनात्मक पौरुष में यद्गुण आत्म-विश्वास से पगी हुई। उसके बाद वह स्वयं के लिए एक विवशता में अनुताप में बदली, और फिर एक करुणा के खिन्न-राग में। जो आत्मरक्षा पहले अज्ञेय की सबल थी वह अब कारा बन गयी थी। आत्म-दान की वैभवशालिनी पीड़ा आत्मनिर्वासन की करुणा हो गयी थी—'दर्प किया / शक्ति नहीं मिली / सुख लिया—छीन-छीन कर भर-भर मुख लिया / अभिव्यक्ति नहीं मिली। / दुख दिया, दुख पिया, दुख जिया / मुक्ति नहीं मिली।' इस मर्म-बोध के साथ-साथ जो कुछ घटित हुआ वह यह था—'मरु की ओर अदृश्य बढ़ी / अन्त सलिला को / सहज, कुछ कहे बिन / फिर भीतर को मोड़ गये।' आत्मनिर्वासन के दश की क्या यह तस्वीर नहीं है? अज्ञेय जितना ही उस दश से मुक्ति पाने के लिए भीतर की ओर गये उतना ही उस आत्म-निर्वासन स अपने को तादात्म्य करते गये और उतना ही वह बाहर के सन्दर्भ से कटते चले गये। उनका अन्तर्द्वंद्व जो पहले कविता के मर्म बींधता शान्त-उद्वेलित था, अब एक रंगीन काव्य मुद्रा की वातानुकूलित वाचालता म स्थिर हो गया था।

आपने अज्ञेय की शुरू की कविताओं की 'अरथ अमित अति आखर थोरे' वाली बात पर गौर किया है? बाद की कविताओं म शब्दों की वैसी स्पृहणीय कंजूसी, उनका सधा-कसा इस्तेमाल और बहुत कुछ अनकहा छोड़ दिये जाने की आश्वस्तता कहाँ गयी? उनकी काव्य भाषा में स्वत स्फूर्त ओज के स्थान पर घोषपूर्ण वक्तृता, अर्थ की सहज लय के स्थान पर स्थूल तुकें और शब्द बलाघात, मर्म-कथन के अर्थ पूर्ण बिम्ब-चित्रों के स्थान पर अनुभव सिद्ध (अनुभूति सिद्ध नहीं) व्यथा के 'बड़बोल' शब्दचित्र किस प्रक्रिया के व्यंजक है? आत्मविस्तार के या आत्मनिर्वासन के? या आत्मनिर्वासन की कारा को तोड़ने म आत्मविस्तार की निष्फल छटपटाहटों के? 'आँगन के पार द्वार' में अज्ञेय के आत्म निर्वासन का चित्र सम्पूर्ण हो जाता है। यह भी कह सकते है कि उसम आत्म-विस्तार के रहस्यदर्शन की झीनी-बीनी चादर को आत्मनिर्वासन की ठण्ड में ठिठुरते कवि पर ओढ़ा दिया गया है।

'मैं' और 'पर' के अन्तर्द्वंद्व म परिवर्तन का एक आधार बाह्य परिदृश्य के बद-लाव में देखा जा सकता है, तो दूसरा आधार स्वयं अनुभूति के गुण-भेद में। अज्ञेय में

'मैं' और 'पर' के सम्बन्धो को उत्प्रेरित करने और उन्हे अर्थवत्ता प्रदान करने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है प्रेम। 'मैं' और 'पर' के जिस सम्बन्ध बोध मे प्रेम का तत्त्व नियामक तत्त्व रहा है उसकी अभिव्यक्ति जिन गीत्यात्मक कविताओ मे हुई वे अज्ञेय की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ है। बाद के सग्रहो मे भी वे ही प्रेम-कविताएँ मर्मस्पर्शी बन पडी हैं जो गीत्यात्मक अनुभूतियो पर निर्भर है। गीत्यात्मक होने का अर्थ निश्चय ही यहाँ मात्र सगीत प्रधान होना या कि प्रेमानुभूति की तरल-सरल रूप छवि आँक देना नही है। इसके विपरीत इन कविताओ मे अनुभूति का सश्लिष्ट जटिल रूप अपनी पूरी आँच, वेग और तनाव के साथ मौजूद है।

पर आगे चलकर प्रेम का अनुभव भावनागम्य न रह कर मस्तिष्कीय होता गया। स्पष्ट है कि तब प्रेम का अनुभव एक माध्यम रह गया—वृहत्तर मानवीय अनुभव से अपने को जोडने का—आत्म-विस्तार का—और इसम भाव-चर्या की अपक्षा चिन्तन-चर्या ज्यादा सहायक होती है। मछली को सागर मे मिलना है, जो मात्र तृषा है उसे जिजीविषा मे बदलना है। प्रेम को एक हीरे की कनी की तरह ठोस, स्फटिक कवि के मर्मस्थल मे निवास करना है, उस बाहर के आलोक मे घुलाना है। यह प्रेम की अनुभूति का मानव सन्दर्भ नही मानव प्रेम की अनुभूति का दर्शन-सन्दर्भ था। इसीलिए इस प्रेमानुभूति के दर्शन की अभिव्यक्ति पहले वाली गीत्यात्मक कविताओ की तरह नहीं होती। अब वह ताप, उद्वेग और तनाव नही, बल्कि कवि अपने प्रेम-दर्शन मे एक सम-रसता की तरफ बढता है। 'मौन' यहाँ भी है, पर इस मौन की पहले वाले 'मौन' से तुलना कीजिए। वह 'मौन' मानव-सत्ता की उपस्थिति से झकृत होता हुआ मौन है, जबकि यह 'मौन' उपराम क्रियाशीलता का, जिसमे अन्त वृत्तियाँ सिमटकर एक शान्त आलोक पुंज मे लय हो जाना चाहती हैं—'कहना सब सुनना है, स्वर कवल सन्नाटा।' प्रेम, फिर करुणा, फिर महामौन। 'मैं' और 'पर' का सम्बन्ध अब भी बना हुआ है और महामौन के बावजूद कवि का अन्तर्द्वन्द्व भी है। पर प्रेम जो अपनी मानवीयता मे अब तक उस सम्बन्ध का एक नियामक तत्त्व था उसके स्थान पर मनुष्येतर चीजें नियामक हो गयी है।

अज्ञेय शुद्ध अनुभूतियो के कवि नही रहे, जैसे कि मिसाल के लिए उनके सम-वयस्क कवि शमशेर। शुरू से ही उनमे एक दृढ बौद्धिक आधार रहा। तन्मयता के क्षणो म भी उनका आत्मसजग विवेक तारे के समान जागता रहता था। उनकी भाषा मे शब्द अर्थों के प्रभामण्डल मे घुल-मिलकर अपनी नुकीली सत्ता को खो नही देते थे और इस तरह शब्द और अर्थ के बीच का क्षण-क्षण उत्तजित तनाव बराबर बनाये रख सकते थे। अनु-भूति की सघनता मे भी एक ऐसा चौकन्नापन रहता था जो कवि को 'केवल लय गति' होने नही देता। अज्ञेय की बौद्धिकता ने उसके काव्य-अहं को पुष्ट किया, उसे परिष्कृत किया, व्यापक बनाया। पर एक क्षण ऐसा आया जब अज्ञेय को यह फैसला करना पडा कि वह शब्द और अर्थ के बीच की दीवार को विस्फोटक से उडा देंगे। जिस काव्य-अहं को अपनी बौद्धिक सस्कृति का सम्बल पाकर आत्म-निक्षेप द्वारा वह खीच-खीच कर विस्तृत और व्यापक करते रहे थे उसकी सीमा स्वय उनके सामने भी उजागर होने लगी

थी। शायद अनुभूति के नये दबावपुंजों की वजह से नहीं, अपनी उसी बौद्धिकता की प्रेरणा से अज्ञेय ने अपनी कारा को विस्फोटक से उड़ा देने की सोची।

यह विस्फोट पहले भीतर की दिशा में हुआ। आत्मदान के रूप में जो अन्तर्धारा लगभग शुरू से ही अज्ञेय में बहती रही थी, वह 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में कुछ प्रबल हुई—'एक नीरव नदी बहती जा रही थी,/बुलबुले उसमें उमड़ते थे/रह संकेत के' और 'अथ दो/मत हमें रूपाकार इतने व्यर्थ दो।/हम समझते हैं इशारा—जिन्दगी का—/हमें पार उतार दो—/रूप मत, बस सार दो।' राह जिस दिशा में मुड़ी उसमें सार-तत्त्व पर बल दिया था। 'आँगन के पार द्वार' उस भीतरी विस्फोटक की चरम स्थिति है। शब्द और अर्थ यहाँ एकाकार हो चुके हैं, पहले उनमें परस्पर जो तनाव रहता था वह नहीं रह गया। तनाव न रहने से शब्द मुखर भी हो गये हैं, कभी-कभी अर्थ की तरफ से लापरवाह भी। शायद अर्थ भी यहाँ पहुँच कर 'तथ्य' बन गया है, और जो सत्य है वह तो भाव प्रतीति की वस्तु है, बखान की नहीं। 'आँगन के पार द्वार' में अनुभूति चिन्तन में बदल चुकी है तो 'कितनी नावों में कितनी बार' में स्मृत्याभास में। 'आँगन के पार द्वार' में मनुष्य से ऊँचा उठ कर मनुष्येतर अध्यात्म की तरफ बेरोक सीधी उठान है, 'कितनी नावों में कितनी बार' में अनुभूति का सदर्भ मनुष्य और मनुष्येतर के बीच दुविधा में झूल रहा है। इससे लगता है कि वह भीतरी विस्फोट भी अन्ततः अज्ञेय के काव्य अह की आकांक्षा का समाधान न कर सका। 'कितनी नावों में कितनी बार' में रहस्य साधना से जगी हुई खुमारी आँखों की कविताएँ हैं—'मेरे भीतर एक सपना है/जिसे मैं देखता हूँ कि जो मुझे देखता है, मैं नहीं जान पाता/यानी कि सपना मेरा है या मैं सपने का/इतना भी नहीं पहचान पाता' तरल लयात्मक, झीनी, अस्पष्ट कुछ भी ठोस पकड़ाई में न आने वाली, और हाँ, एक चौकन्नेपन से युक्त—कि डूबने के जैसी होते हुए भी डूबने देने को बचाती हुई, क्योंकि डूबने की जिस सीढ़ी तक वह है उससे एक दर्जा और नीचे उतरने पर रहस्य साधना की तथ्यहीन सारता में फँस जाने का खतरा है। पर इस संग्रह की कविताएँ एक बात का और भी परिचय देती हैं कि पूर्व संग्रह में जो विस्फोट कवि ने किया था उसके धमाके से अनुभूति-तन्त्र के साथ साथ अभिव्यक्ति-तन्त्र भी चरमरा गया है। अनुभूति और भाषा को जोड़ने वाली रस्सी उड़ गयी है, अतः वे पहले की अधिक समर्थ कविताओं की प्रतिध्वनियों जैसी लगती हैं।

'कितनी नावों में कितनी बार' एक मध्यान्तर है। अगला विस्फोट बाहर की तरफ होता है—'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' में। पहले के भावाभिव्यंजक शीर्षकों के मुकाबले इस संग्रह के निरे गद्यवत् शीर्षक की तरफ ध्यान दीजिए। क्या यह सत्य से तथ्य की ओर वापस लौटने का संकेत है? तथ्य से सत्य और सत्य से महासत्य की अनुभव प्रक्रिया से गुजर चुकने के बाद यह तथ्य की ओर पुनः लौटना अज्ञेय का विकास नहीं, बल्कि अपना कायाकल्प (आत्मकल्प?) करने की चेष्टा है। 'आँगन के पार द्वार' में जिस ब्रह्मलीन अवस्था तक अज्ञेय पहुँच रहे थे उसे देखते हुए यह चेष्टा उनके लिए एक आत्यन्तिक जरूरत थी। समाजोन्मुखता के सारे सदर्भ यहाँ जुटाये गये हैं।

पार्थिव प्रेम की नयी हिलोरें भी हैं। भाषा जो मनुष्येतर सत्य के मंत्रोच्चार की-सी पावनता प्राप्त कर चुकी थी, वह फिर से इन्सानों की दुनिया में लौटी है और अपने साथ कुछ नये मुहावरे भी लायी है। पर जो चीज इन सारी चीजों को मात्र गद्यात्मक तथ्य बना देती है वह है किसी गहरी रागात्मक संपृक्ति और तज्जनित ताप की कमी। लगता है इस बाहरी विस्फोट ने भी अनुभूति का बहुत कुछ मूल्यवान अंश तोड़-फोड़ दिया है। या कि कच्चे तथ्य को सत्य बनाने वाली कीमियागिरी ने अज्ञेय का साथ छोड़ दिया है? समाज-संदर्भ वाली कविताओं का व्यंग्य एक अनुभव-प्रौढ़ व्यक्ति की चिड़चिड़ाहट लगती है। या उदास मूड हुआ या कोरी उपदेश-चर्चा। प्रेम की कविताएँ अज्ञेय के पूर्व परिचित प्रेम के सागर के सामने प्रगल्भ, बचकानी लहरों जैसी हैं। मुहावरे स्वतःस्फूर्त न होकर प्रयास-सिद्ध हैं। अज्ञेय ने अपने अतीत से अपने को तोड़कर भविष्य में जीने की कोशिश की है। पर अपने को तोड़ना कभी-कभी किसी बड़ी दुर्घटना बन जाता है। यह इन कविताओं के वर्तमान से स्पष्ट है।

'सागर-मुद्रा' जिसका रचना-काल १९६७-६९ है और जिसमें संगृहीत कविताएँ कालक्रम की दृष्टि से सबसे बाद की हैं। एक दूसरे प्रकार का मध्यान्तर है। 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' में जिस बाह्य-विस्फोट के ज्वार के साथ-साथ अज्ञेय बहे थे, 'सागर-मुद्रा' में वह ज्वार चुक गया है। अपना अध्यात्म की खोल को तोड़कर एकदम जो बहुत दूर तक वह बाहर चले आये थे वह उन्हें रास नहीं आया था। 'सागर-मुद्रा' में जाते हुए ज्वार की लीकें हैं और पीछे सागर तट का अनमना, उदास सीत्कारमय विस्तार जो मन में घर की याद जगाता है। पर कहाँ है वह घर? आश्चर्य नहीं, एक कातर-करुणा से यह प्रश्न कवि के मन में अंकुरित होता है। 'बाहर' का हाल वह देख चुका है। 'भीतर' दुबारा जाने में खतरा है। एक अनिश्चय और दुविधा का भाव और इसके साथ कवि की टूटते हुए स्वर से यह कातर प्रार्थना 'मुझ को और मुझ की ओर मुझको/कहीं मुझसे जोड़ दो/यों मत छोड़ दो मुझे, सागर,/यों मत छोड़ दो।' पर मुख्य सवाल यही है—वही सनातन सवाल जो अज्ञेय की काव्ययात्रा के लगभग शुरू से ही उनका पीछा करता रहा था—कि वह जुड़ना किस स्तर पर होगा? निश्चय ही कवि के आत्म-विश्लेषण की यह परिणति करुणाजनक है करुणाजनक इसलिए है कि अज्ञेय इस सवाल के फिर उसी जवाब तक पहुँचे हैं जिस पर आज से पच्चीस साल पहले वह पहुँचे थे। पर इस बार यह जवाब अपनी नियति के विवश स्वीकार की-सी हताशा लिए हुए है—'यही ज्योति-कवच है हमारा निजी सच,/सार, जो हमने पाया।/गढ़ा, चमकाया, खुदाया,/ उसकी सुप्रीत छाया से बाहर, ओ मीत,/अब जाना ना।'

अज्ञेय की दो दुनियाओं की परतें हमने उधेड़ी, पर उस तीसरे अज्ञेय का क्या हुआ? उसके बहुत सारे सूत्र लगता है उस उपक्रम में कहीं पीछे ही छूट गये जिन्हें बटोरने के लिए हमें एक यात्रा और करनी पड़ेगी। इस बार भी 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' से ही। इस पुस्तक के ब्लर्ब में एक बड़ी सारगर्भित पंक्ति है: 'उसमें (अज्ञेय की कविता में) राजनीति और फूल और कलियों में भेद नहीं है।' इस वाक्य को १९४५

में प्रकाशित 'त्रिशकु' के 'सक्रान्ति काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ' नामक निबन्ध की इन पक्तियों के साथ रखिए 'दुख, अपूर्णता, पीडा, ये सर्वव्यापी हैं। गरीबो ने इनका ठेका नही लिया है—इसे वे भी मानेंगे जो स्वय गरीब हैं। और सुख और सन्तोष भी वर्गभेद नही देखते। तब कैसे एक वर्ग का दुख सुख दूसरे वर्ग के सुख-दुख से अधिक वर्णनीय मान लिया जाये? क्यो न हम दोनो वर्गों के ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता के गान गायें?' समय का इतना बडा अन्तराल होने के बावजूद दोनो उद्धरणो में कवि-कर्म को लेकर व्यक्त की गयी धारणाएँ मूलत एक ही हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि १६४५ की दो टूक ओजस्वी विचारशीलता १६७० तक आते-आते एक सुन्दर सुभाषित में बदल गयी है।

इस धारणा को आज जिस रूप मे भी व्याख्यायित किया जाये, तत्कालीन सदर्भ मे उसे समझने के लिए याद रखना होगा कि अज्ञेय की चिन्ता एक व्यापक मानव-सस्कृति को लेकर थी। सस्कृति के मूलाधार भाषा और भाषा के उत्कर्ष-रूप साहित्य में इस चिन्ता का एक अग था रचनाकार की स्वाधीनता और दूसरा अग था साहित्य की आत्यन्तिक, शाश्वत और समय-निरपेक्ष कसौटी। अज्ञेय की सघर्ष यात्रा इस दोहरे उत्तरदायित्व को वहन करने से ही शुरू होती है। अज्ञेय की विशिष्टता सिर्फ इस बात मे नही है कि उन्होने इस दोहरे उत्तरदायित्व को झेला। बल्कि यह भी कि उसे सिर्फ अनुभूति मात्र के स्तर पर न झेलकर उन्होंने उसे वैचारिक स्तर पर भी अपनी सृजना-काक्षा के साथ जोडा। मानसिक आलस्य म दोनो पक्षो म से किसी भी एक पक्ष की ओर पलायन कर जाने के खतरे को उन्होंने बखूबी समझा था। दोनो पक्षो के परस्पर सम्बन्धो की वैचारिक पडताल भी उन्होने की थी। इस प्रयत्न म उन्होने जिन साहित्यिक प्रश्नो को उठाया, जैसे परम्परा और समसामयिकता, भाषा का अवमूल्यन ('बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है'), अनुभूति की अद्वितीयता, साहित्य और राजनीति, अनुभव की समग्रता आदि, उनकी गूँज नयी कविता की साहित्यिक चेतना को प्रेरित करती रही, और कुछ सवालो की सार्थकता तो आज भी बनी हुई है। अज्ञेय ने कविता को मात्र यथार्थ को सह्य बनाने के माध्यम से बढ कर उसे एक वृहत्तर दायित्व को पूरा करने की प्रक्रिया माना था, और जिन प्रश्नो को उन्होने उठाया वे ऐसी चुनौतियाँ थी जिन पर एक रचनाकार के सामर्थ्य की परख हो सकती थी। इसे विडम्बना ही कहना होगा कि प्रश्नो की चुनौतियाँ तो कमोबेश वे ही रही किन्तु उन पर अपनी सामर्थ्य परखने का आह्वान करने वाले अज्ञेय स्वय ही दूसरी दिशाओ की ओर मुडते चले गये।

दो पक्षो के बुनियादी सघर्ष को मानते हुए भी अज्ञेय ने उनकी द्वन्द्वात्मकता को उभारने के बजाय उनम एक सन्तुलन की ही कामना की। आरम्भ मे इस सन्तुलन मे दोनो पक्ष एक सृजनात्मक तनाव म गतिशील होते थे—सिर्फ गतिशील, न प्रगतिशील, न अ-गतिशील।। अज्ञेय के नवनिर्माण का स्वप्न इस तनावपूर्ण सन्तुलन मे ही था। पर अज्ञेय वर्ग चेतना के ऊपर उठकर चिरन्तर शाश्वत के जिस सास्कृतिक आधार पर खडे थे, इस सन्तुलन का चलते रहना उसम बहुत दूर तक सम्भव न था। इसलिए

तनावपूर्ण सन्तुलन के साथ सामजस्य की भी एक धार बह रही थी, जिसका क्रमश 'समाधान' मे रूपान्तरित होते जाना अजब नही था। इस समाधान का प्रकट रूप है एक उदात्त भाव-ससार—जिसम सब चीजें गड्ड-मड्ड हैं, एक-दूसरे से लिपी-पुती, जिसम अमीर और गरीब, शोषक और शोषित, सत्य और स्वप्न एक ही उदार सौन्दर्य-पुञ्ज की कस्तूरी दर-कस्तूरी हैं मानव सस्कृति की सामूहिक गध बिखेरते हुए।

०० ०० ००

अगर अज्ञेय अपना सृजन वर्ग-चेतना पर आधारित करते तो क्या होता ? इसका एक जवाब एक सवाल के रूप मे यह है कि अगर जवाहरलाल नेहरू आधुनिक भारत का स्वप्न एक वैज्ञानिक-औद्योगिक समाज के निर्माण म न देखते तो क्या होता ? दूसरा जवाब है कि तब नयी कविता के बाद वाली पीढी की युवा कविता उपलब्ध न होती। एक तीसरा जवाब यह भी हो सकता है कि तब तीसरे अज्ञेय की तलाश व्यर्थ होती। जवाहरलाल नेहरू के बिना क्या आप आज के भारत की कल्पना कर सकते हैं ? हालांकि गांधी आज के भारत की आत्मा के यथार्थ के कहीं अधिक खरे पारखी थे। यह एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी कि गांधी के जातीय यथार्थ दर्शन पर नेहरू का अन्तर्राष्ट्रीय स्वप्न दर्शन तरजीह पाये। नेहरू के स्वप्न दर्शन म विज्ञान की स्फूर्ति थी और विज्ञान उस वक्त अन्तर्राष्ट्रीयता का मुहावरा था। अज्ञेय की सास्कृतिक चेतना मे विज्ञान का नाम था 'आलोचना'। नेहरू ने भारत के सास्कृतिक पुनरुत्थान के लिए विज्ञान को चुना, अज्ञेय ने 'आलोचना' को। अज्ञेय ने कहा था—"हमे एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा' (त्रिशकु), क्योंकि आलोचना अनुभूति को गहरा और विस्तृत करती है, और गहरी तथा विस्तृत अनुभूति के बिना सस्कृति सम्भव नही है। इन पक्तियो मे अज्ञेय का स्वप्न-दर्शन ही बोल रहा है 'प्रत्येक स्वप्न-दर्शी के आगे गति से अलग पथ की मति नही कोई। / अपने से बाहर आने को छोड/नही आवास दूसरा/भीतर—भले स्वय साईं बसते हो।

पर दोनो ही जगहो पर कहीं कोई बुनियादी चीज छूट गयी थी—शायद यह कि वह 'साईं भी बाहर ही बसता था वह क्षुधा-पीडित नर, जिसकी आँखो मे नारायण की व्यथा भरी रहती है। अत नेहरू के स्वप्न दर्शन का जहाँ अन्त होना था वहीं अज्ञेय के स्वप्न दर्शन का अन्त होना था। नेहरू के स्वप्न दर्शन के अन्त ने स्वप्न-भग से उत्पन्न स्थितियाँ दी अनस्थिरता और विघटन, जिसम तमाम कारी शक्तियाँ जूझ कर समाज के एक गतिशील यथार्थ को प्रकाशित कर रही हैं, असन्तोष और आक्रामकता, जिसमे नयी युग पहचान की सम्भावनाएँ टूट बन रही हैं, एक प्रजातत्र जो तपने के लिए आग मे जल रहा है। अज्ञेय के स्वप्न दर्शन के अन्त ने हम आज की युवा कविता दी। आशका और सभावना के ध्रुव बिन्दुओ पर झूलती हुई एक काव्य पीढी, एक दु स्वप्न जो कविता के भविष्य से ज्यादा मनुष्य के भविष्य को लकर है, एक वर्गचेतना जो राजनीति, कली और फूल के भेद को पहचानती है, पर इस ज्ञान से उसकी मुट्ठी से सिर्फ धुआँ

निकलता है, एक कविता जो यथार्थ को सहनीय नहीं असहनीय बनाती है, कुछ अनाम मूल्य जो फिलहालियत में टलते जा रहे हैं।

और इस स्वप्न-दर्शन के अन्त के बाहर कहीं वह तीसरा अज्ञेय भी खड़ा है। पर उसे क्या कोई देख रहा है? लेकिन फिर भविष्य को किसने देखा है—हाँ हाँ, वही भविष्य जिसमें एक अज्ञेय रोज जीता है और एक अज्ञेय रोज मरता है।

[१९७१]

कविता में एकालाप

विजयदेव नारायण साही के काव्य-सग्रह 'मछलीघर' की कविताओ को अलग-अलग कृति मान कर उन पर विचार नही किया जा सकता। बहुत-सी कविताएँ स्मृतियों के ऐंद्रजालिक वातावरण मे जन्म लेती हैं और बाहर की भौतिक एव अपेक्षाकृत ठोस शरीरी सच्चाइयो की दो चार झलकें दिखाकर फिर उसी ऐंद्रजालिक वातावरण मे खो जाती हैं। प्राय एक कविता की स्मृति का धागा उसे दूसरी कविता की स्मृति के धागे से जोडता है, एक कविता मे खुलने वाली तिलस्मी सुरग या खोह या घाटी का द्वार दूसरी कविता की खोह, सुरग या घाटी मे से होकर जाता है। प्रकृति सम्बन्धी चित्र-प्रधान कविताएँ और कुछ तरल रूमानी मूड की कविताओ को छोड दें तो शेष लगभग सारी कविताएँ एक ऐसी कथा के जाल से बुनी हुई हैं जिसमे कथा के भीतर कथा की एक-एक पखडी खुलती जाती है और हर पखडी अपने-आप मे किसी बृहद् वैयक्तिक 'मिथ' की एक और कडी को पुकारती हुई कडी-सी लगती है। इस समस्त कार्य-व्यापार का स्थल है कवि का चिन्तनशील मन। अपनी कथाका एकमात्र वक्ता और श्रोता वही है, किसी बाजीगर की तरह वह अपने मन के अर्धविस्मृत कुण्डो से यह सारा इन्द्रजाल निकालता है और फैलाता है और फिर उसे खुद ही समेट लेता है। उसका न कोई दर्शक है, न कोई मध्यस्थ। वह एक अनन्त आन्तरिक और हाँ, आत्मीय एकालाप मे निमग्न है।

इस एकालाप की अनिवार्यता को कोई भी एक कविता व्यक्त कर सकती है, स्वय कवि ने भी भूमिका मे इसका सकेत दिया है. आज के इस अनैतिक और विश्रृखल युग मे कवि कर्म की जिम्मेदारी का बोध। पर हमारी दिलचस्पी यहाँ एकालाप की उस सर्जनात्मक प्रक्रिया मे है जिसमे ये कविताएँ अपनी खास शक्ल अख्तियार कर सकी हैं। आज का मूल्य चेतनाहीन अराजक परिवेश तथा उसमे कवि का नैतिक दायित्व और कवि-कर्म की प्रक्रिया, ये दो ऐसे पहलू है जिनका अध्ययन वर्तमान हिन्दी कविता के सन्दर्भ मे कई प्रश्नो को उभारता है। मिसाल के लिए यहाँ सिर्फ सर्जन की प्रक्रिया के पहलू को लें तो इसपर विचार करना अपने आप मे रोचक हो सकता है कि क्यों किसी कवि मे युग के प्रति नैतिक सपृक्ति 'एकालाप' बनती है और किसी मे 'सलाप'? क्या एकालाप और सलाप की प्रक्रिया उस नैतिक सपृक्ति की प्रकृति पर प्रकाश नहीं डालती? वह कौन सा बिन्दु है जहाँ कवि की नैतिक सपृक्ति को वहन करने वाली उसकी काव्य-प्रक्रिया विच्छिन्न हो जाती है? फूटकर भिन्न रास्ते पर चल निकलती

है और वह नैतिक सपृक्ति किसी सुन्दर और आकर्षक डिबिया मे बन्द पड़े लाख टके के हार सी वर्तमान के सवेदना-क्षण के आगे अप्रस्तुत, अत अप्रासगिक हो जाती है ? सौभाग्य स 'मछलीघर' मे एक सम्पूर्ण कविता ऐसी है जो इन प्रश्नो की परीक्षा करने का अवसर प्रदान करती है।

कविता इस प्रकार है

मैं तुम्हें निमन्त्रित करता हूँ
कि मेरे साथ इस कल्पित खिड़की तक आओ
और ठण्डे कांच की इस दीवार को
होठो से छुओ
यह स्पर्श तुम्हे परिशोधित कर देगा
ऊँचे शिखर की हवा की तरह।
खिड़की के पार
तुम्हें अपनी ओर ताकती हुई
दो आसमान सरीखी आँखें दिखेंगी
और जैसे जैसे तुम
नीचे से ऊपर टटोलते हुए
दीवार के सहारे उठोगे
ये आँखें तुम्हारे साथ उठेंगी।
अब तुम वापस चले जाओ
और नीची निगाहो से
इस बन्द कमरे मे खिले हुए
नाजुक फूलो, सफेद सीपियो और सदाबहार पत्तियो के बारे म
विचारते रहो
कोई आतुरता नही है
क्योंकि निगाह उठाने पर
उस पार वे दोनो आँखें तुम्हे बराबर दीखेंगी
निर्निमेष
और जब तुम चाहोगे
धीरे धीरे इस ठण्डे कांच की दीवार के सहारे
तृषाहीन आकर टिक जाओगे
परिशोधित।

कविता का शीर्षक है 'मछलीघर'।

स्पष्टत यह कवि की रचना प्रक्रिया की कविता है, कवि के मूल विश्वासो-आग्रहो की नही। यह बात अपने आपमे महत्त्वपूर्ण हो सकती है कि अपनी रचना प्रक्रिया को एक तरह से व्याख्यायित करने वाली इस कविता पर ही कवि ने सग्रह का नामकरण

किया, अपनी काव्य-यात्रा में उपलब्ध या अनुपलब्ध किसी गूढ़ आशय अथवा सम्भावित सत्य स्रोत पर नहीं। क्या इससे यह माना जाए कि कवि अपनी काव्य-प्रक्रिया को काव्य-वस्तु से अधिक महत्त्व देता है ? — भीतर चल रहे एकालाप को पकड़ने की कोशिश और कवि व्यक्तित्व के बजाय कविता पर बल देने के पीछे क्या यही आग्रह नहीं है ? —दृष्टि का एक ऐसा उदार खुलापन जिसमें किसी चीज को समेटकर रख लेने की आतुरता नहीं, किन्हीं अनुभूतिजन्य प्रतीतियों को ठोस मानव-सत्य के साक्षात्कारों में परिणत करने की कामना नहीं, सिर्फ एक अनवरत तलाश, स्थितियों और मन स्थितियों के अंतराल में चलते रहने की स्वत स्फूर्त जिज्ञासा और उस जिज्ञासा के आसंग में उसके लिए अपने को सतत प्रस्तुत करते रहने की संयम-साधना" ऐसी कि एक स्तर पर ऐसा आभास हो कि प्रक्रिया ही काम्य हो गई है ? इसलिए आश्चर्य नहीं कि यह कविता रचना प्रक्रिया को जीवन दर्शन की-सी गम्भीरता एवं भंगिमा के साथ व्यक्त करती है।

पहले आती है एक 'कल्पित खिड़की', जो कवि के काव्य-वस्तु की ओर खुलने के साथ-साथ मानो कवि के काव्यानुभव की भी खिड़की है—किसी अलक्ष्य की ओर खुलने वाली काव्यानुभव की खिड़की। कल्पित खिड़की। इसीलिए इस खिड़की से दिखने वाला काव्य के परिवेश का यथार्थ, यथार्थ से परे का यथार्थ है। ऐसा यथार्थ जिसे सिर्फ एक बार देखने की जरूरत पड़ती है। उसे दूसरी बार देखने की कोई आतुरता नहीं होती। ऐसा यथार्थ जो क्षण-क्षण के अनुभव में अस्तित्ववान नहीं होता, क्योंकि कवि और जीवन-जगत के बीच यह कल्पना की खिड़की है। और कवि इस खिड़की से दिखने वाले जीवन-जगत की स्थूल गतिविधियों-स्थितियों से बेगाना न होकर भी अपनी दृष्टि मूर्त और ठोस और परिचित यथार्थ की दीवार के सहारे ऊपर उठाकर आसमान में विश्व-ब्रह्माण्डों, अमूर्त आकारों और गतिशील पिण्डों की तरफ ले जाता है। कवि मानव-मन में प्रतिबिम्बित उन तिलस्मी, रहस्यमय, 'कॉस्मिक' आकारों को सचालित करने वाले गूढ़ नियमों—और मानव नियति के जटिल सूत्रों —की काव्यात्मकता की ओर आकर्षित होता है। यहाँ यह स्मरण रहे कि कवि की सम्पृक्ति का केन्द्र मानव ही है, मानव-निरपेक्ष कोई अमूर्त सिद्धान्त नहीं। पर मानव को भौतिक स्थितियों के घात-प्रतिघात में सन्दर्भ-रहित उतरात देखने और उसे तद्वत अंकित करने की अपेक्षा वह उस अन्विति, मानव नियति की उस अपरिहार्यता को ढूंढता है जिसके माध्यम के रूप में मात्र सन्दर्भ-जनित अनुभूतियाँ पर्याप्त नहीं होती। मानव स्थितियों के क्षण-क्षण यथार्थ के प्रत्यक्ष साक्षात्कार से उपजी कविता भी शायद कवि की मानव नियति की अपरिहार्यता का सूत्र ढूंढ पाने की विकलता को सन्तुष्ट नहीं कर पाती। जो सहज भाव-सवेदन द्वारा प्राप्य है वह शायद कवि की कल्पना के उन्मुक्त दिशा-सधान के लिए अपेक्षित विस्तार नहीं दे पाता और कवि के लिए कला-सृजन की कठोर शर्तों के पालन की यथेष्ट चुनौती नहीं जुटा पाता। इसीलिए कल्पना की खिड़की से कवि उन दुर्गम घाटियों खोहों, गुफाओं, आदिम प्रपातों, नदियों और अशान्त समुद्रों का आविष्कार करता है जो एक साथ समय की चेतना की काई से लिपटे अधिक आदिम, कठोर और शाश्वत भी लगते

है और वह असम्पृक्त पृष्ठभूमि भी प्रदान करते हैं जहाँ मानव मन की बुनियादी जिज्ञासाओं और अस्तित्ववादी प्रश्नो एव परिकल्पनाओ से निर्भीक साक्षात्कार किया जा सके। छोटे कैन्वस पर यह खिडकी मछलीघर की ओर खुलती है, पर उसके पीछे भी अपरिचित और अमूर्त की उन्ही प्रेरणाओ का निमन्त्रण है।

इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लेने के बाद जो मन स्थिति बनती है उसमे उस साक्षात्कार के लिए अपने भावयन्त्र को निरन्तर माजते, निरन्तर तराशते, निरन्तर पारदर्शी करते जाना है और इसके लिए अनुभूतियो के एक निश्चित ताप मे अपने को निरन्तर कसते जाना है। ठण्डे काँच की दीवार मे एक साथ निर्वैयक्तिक तटस्थता और भावयन्त्र की पारदर्शिता—जिससे कवि अपनी जिज्ञासा के केन्द्रो की सत्ता के प्रति अधिक-से अधिक आत्मीय हो सके—दोनो ही गुण हैं। काँच दृश्य के साथ-साथ ताप भी सम्प्रेषित करता है जो शायद अस्तित्ववादी प्रश्नो की निपट निरावरण प्रखरता के अनुकूल नही पडती, इसलिए दीवार (कवि का भावयन्त्र) ठण्डी है—असम्पृक्त, मर्यादित और किसी भी अतिरेक या विभोर भावाकुलता से रहित। कवि अपने काव्यानुभव को सर्जनात्मक ग्रहणशीलता की जिस भूमि से उठाता है वह मानव-आवगो की परस्पर गुत्थमगुत्थी से न तो गदली या दलदली है, न अस्पष्ट कुहासाछिन्न। इसीलिए इस सर्जनात्मक ग्रहणशीलता से उपजी भाषा जो स्फटिक की तरह साफ-सफ्फाफ है, उसके अलावा 'कुछ और' लिये हुए होने का भ्रम अपने बारे म नही पैदा करती। यह भाषा अपनी प्रकृति मे पारदर्शी है, सचीली नही। उसका अपना 'डाइनैमिज्म' कोई नही है, वह कवि के जादुई स्पर्श से ही झकार करती है। वह कवि व्यक्तित्व को वहन करके ही 'जीवित' का आचरण करती है। वह दीवार है और ठण्डी है। काव्य आशयो की परतें जो अनजान क्षितिजो का आभास देती हैं, काव्यानुभवो के गोपन कक्ष जो 'कुछ और' का अहसास कराते हैं, अभिव्यक्ति म अधूरेपन का स्वाद जो माल की खपाने की रुचि पैदा करता है भाषा के पारदर्शी गुण का सहज धर्म है, भाषा की आन्तरिक सर्जनात्मकता का उपक्रम नही। भाषा की आन्तरिक सर्जनात्मकता के सदर्भ मे अधूरा वह है जो टूटकर बनते बनते रह गया हो, गोपन वह है जो शब्दातीत की सम्भावना से स्पदित हो, अनजान वह है जिस तक पहुँचने की कोई निश्चित पगडण्डी न हो।

भाषा के इस परिमार्जित मयतरूप के रहते जीवन-जगत का वह वास्तविक अधूरापन, अँधुआपन, उद्वेग और उफान, मूल्य सशय की तिलमिलाहट और आक्रोश, एक मानवीय स्थिति और दूसरी मानवीय स्थिति के बीच गलत और सही के सही और गलत कर जाने की अनिश्चितताएँ नही चल सकती। उस किस्म की भाषा के सदर्भ मे ये चीजें 'प्रोफेन' हैं, कुछ हद तक अशिष्ट और 'वल्गर' भी। हाड़-मांस के मनुष्य के बजाय मनुष्यत्व के बुनियादी तात्त्विक रूपो की ओर बढ़ने वाली भाषा पावनता की भाषा हो जाती है उस सूक्ष्म सौन्दर्य और चिन्तन के रस की भाषा, जो अपनी आँच से भुलसाती नही, एक अजब शान्ति, पावनता और परिष्कार प्रदान करती है। ठण्डी दीवार पर होठो की छुअन ऐसा ही 'प्लेटानिक' सौन्दर्य है जिसम मांसल स्थूलता की भौतिक गरमाई न

होकर कोमल रूपकात्मकता (नाजुक फूलो, सफेद सीपियो और सदाबहार पत्तियो जैसी) की आँच है जो भावावेग की उत्कटता के स्थान पर सतुलित भाव-तरग की 'हॉरमनी' का परिचय देती है। यह 'हॉरमनी' समरसता की 'हॉरमनी' है, इसके बीच कोई अविवेकी उद्दण्ड दरारती स्वर नही आ टपकता।

यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकार की भाषा के गठन मे अमूर्तताएँ भरी हो और उसकी गरिमा सदा से उदात्त या गम्भीर हो। इस भाषा के शब्द-समूहो मे, शब्द-खण्डो और शब्द-संधियो मे, दरअसल एक सादापन होता है जिसमे एक ओर अपरिचित होकर भी परिचित लगने जैसी आत्मीयता होती है तो दूसरी ओर परिचित होकर भी अपरिचित लगने जैसी व्यजनात्मक गरिमा—हालाँकि परिचित को कसकर पकड रखने और उसके सम्भावना क्षेत्र का अनुसधान करने जैसी व्याकुलता उसमे नहीं होती। यह सादापन प्राय आम बोलचाल के शब्दो और वाक्य-सरचना के इस्तेमाल मे प्रकट होता है। इससे ऐसा भ्रम पैदा हो सकता है कि यह भाषा आज के समय की बोलती हुई धडकनों के समानान्तर है और आज के जीवन की अन्तर्धारा से उसकी पटरी बैठ रही है। पर अधिक गहराई से देखने पर यह भ्रम टूट जाता है क्योकि इस भ्रम को उस प्रकार की भाषा के सन्दर्भ मे पालना उस भाषा की अन्त प्रवृत्ति और नियति के साथ भी अन्याय करना है।

इतिहास, प्रकृति और द्युलोकों की गूढ विधायक शक्तियो मे मानव-कविता की खोज पावन भाषा के माध्यम से अन्तत जब 'शुद्ध कविता' की खोज मे बदल जाती है तब कविता का उद्दिष्ट प्रभाव ऊँचे शिखर की हवा की तरह भाव-चित्त का परिशोधन हो जाता है। यह अवश्य है कि यह निर्मल काँच की तरह पारदर्शक तरल हवा उन्ही लोगो को नसीब होती है जो पहाड की कठिन चढाइयाँ चढ सकते हो। उस शिखर तक पहुँचने के लिए एक ऊँचे दर्जे का पलायन—कवितालोक मे पलायन—एक अनिवार्य शर्त है। वहाँ मन को झकझोर कर तोड देनेवाला वेदना का रूप नहीं मिलेगा बल्कि वेदना को एक मूल्य, एक 'निर्निमेष' दृष्टि प्रदान करने वाला रूप मिलेगा। चाहे कवि ने अपनी यात्रा सामान्य मनुष्यो के बीच से ही शुरू की हो, इस शिखर पर उसकी कविता पाठक को जगत के जजाल-बोध से दूर रखती है और मन के एकान्त मे उन आधारभूत खोफनाक प्रश्नो को उकसाती है जिनसे निर्भीक साक्षात्कार के लिए प्राचीनकाल मे ऋषि मुनि पर्वतवास किया करते थ।

अब सवाल यह है कि पर्वत शिखर पर पहुँचकर भी कविता कविता कैसे बनी रह सकती है, दर्शन शास्त्र या अध्यात्म-शास्त्र का कोई सूत्र क्यो नही बन जाती है? 'मछली-घर' कविता म इसका स्पष्ट जवाब नही है, पर उसकी आन्तरिक बनावट मे उसके सकेत देखे जा सकते हैं। कविता म शुरू से आखिर तक एक नियन्त्रित भाव-सवेग मौजूद है—प्रारम्भिक पक्तियो मे ही अपने अनुभव मे शरीक होने का आमन्त्रण और उस अनुभव मे सिर्फ डूब जाने का नही, उसमे निहित दृष्टि का अनुसरण करने का आमन्त्रण अपने पीछे एक सयत भाव-सवेग लिये हुए है, जो अन्त तक कायम रहता है। अत कविता केवल

अनुभूति के प्रवाह के सहारे आगे नहीं बढ़ती, न पाठक पर अनुभूति के दबाव की छाप छोड़ने की आतुरता दिखाती है, वह अनुभूति के क्रमिक संचरण को विश्लेषित करती चलती है। उसमें संवदित विचार की एक लय है जो क्रमशः रूपकात्मक दृश्यों और कल्पनाओं को नियोजित करती जाती है। संपूर्ण कविता के ऊपर भाव संवेग का एक वितान तना हुआ है जो उस विचार को संयत रूप से 'उत्तेजित अवस्था' में रखता है। पावन भाषा की उदात्त मुद्राओं और उसकी सीमाओं के बीच यह उत्तेजना—विचार की प्रवृत्ति—ही कविता को बचाए रखती है।

एक भाषा होती है जो कवि की 'सीमा' होती है, एक भाषा होती है जो कवि की 'स्थिति' होती है। सीमा तोड़ी या बढ़ायी या बदली जाती है—जा सकती है, 'स्थिति' बस होती है या नहीं होती है यानी या तो जो 'जीती हुई' होती है या 'मरी हुई' होती है। मछलीघर का कवि 'सीमा' के दायरे में है या 'स्थिति' के दायरे में, यह बताना यहाँ अप्रासंगिक है। हाँ, इस चर्चा के शुरू में रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में 'एकालाप' और 'संलाप' की जो बात उठायी गयी थी उसका थोड़ा विस्तृत निरूपण यहाँ प्रासंगिक होगा, खासकर इसलिए कि मछलीघर कविता के विश्लेषण में इस निरूपण के संकेत छूटे हुए थे और उस विश्लेषण को एक व्यापक संदर्भ में देखना यहाँ आवश्यक हो गया है।

अनैतिक और विशृंखल युग में कवि-कर्म के प्रति नैतिक संपृक्ति की दृष्टि क्या? शायद इसलिये कि कवि जीवन के प्रत्यक्ष साक्षात्कार में एक ऐसी व्याकुलता का अनुभव करता है जो उसे मानव-जीवन के सतही रूपों से परे मानव-अस्तित्व की बुनियादी शर्तों और चुनौतियों की ओर आकर्षित करती है। शायद यह अपने आप में किसी मूल्य की तलाश है, चाहे इस मूल्य का रूप कुछ भी क्यों न हो। कवि-कर्म में आस्था अपने-आप में एक मूल्य है और अनैतिक विशृंखल युग में जिम्मेदारी का बोध भी एक मूल्य ही है। कवि की युग दायित्व के प्रति संपृक्ति निश्चय ही सर्जनात्मकता के मूल आग्रहों के भीतर ही कोई माने रख सकती है। इसी तरह यह नैतिक संपृक्ति जिस प्रकार की सर्जनात्मकता द्वारा अपने को व्यक्त करती है वह भी महत्त्वपूर्ण है—बदलते हुए समय की नब्ज को पकड़नेवाली कविता के संदर्भ में तो यह और भी महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि नैतिक संपृक्ति अपने-आप में एक आदर्श स्थिति हो सकती है, पर यह संभव है कि बदलते समय के समानान्तर चलती टूट टूटकर बनती सर्जनात्मकता के साथ वह न चल पाये। बदलते समय के समानान्तर चलती सर्जनात्मकता से मेरा मतलब उस सर्जनात्मकता से है जो वर्तमान की 'स्थिति' और 'संभावना' को काफी दूर तक आगे प्रक्षेपित कर सके। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण देना जरूरी है।

साही की 'मछलीघर', कुँवरनारायण की 'आत्मजयी' और अज्ञेय की 'आँगन के पार द्वार' की कविताएँ और विशेषकर उनकी काव्यकृति 'उत्तर प्रियदर्शी' को लें। इन तीनों ही कवियों में युग जीवन के प्रति नैतिक संपृक्ति का स्वर है। इस नैतिक संपृक्ति को घटाकर यदि कवि और उसके परिवेश के परस्पर सम्बन्ध के धरातल पर लाएँ तो मिलेगा कि यह सम्बन्ध 'एकतरफा' है, यानी वह परिवेश कवि के व्यक्ति मन में ही

केन्द्रित है। व्यक्ति मन के संस्कार पर ही उस परिवेश का संस्कार निर्भर है, वही उसे नियन्त्रित, परिसीमित और परिभाषित करता है। व्यक्ति-मन चाहे जिस किसी स्रोत या प्रणाली से ऊर्जा पाता हो वह अपनी ऊर्जा से ही परिवेश में अर्थ की सम्भावना विकसित करता है और उसे अपनी ही ऊर्जा से पुष्ट करता है। यह एक तरह से कवि-व्यक्तित्व बनाम परिवेश का मामला हुआ। इसमें सर्जनात्मक प्रक्रिया की क्षमता उस कवि-व्यक्तित्व को निरन्तर पुष्ट और संस्थापित करते आने की क्षमता से आँकी जाती है। कवि की दृष्टि जितनी ही उदार, व्यापक, उच्च होगी, परिवेश को अर्थ देने की प्रक्रिया में कविता उतनी ही उदार, व्यापक, उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होने के लिए बढ़ेगी। यह 'एकतरफा' सर्जनात्मकता है। इस 'एकतरफा' सर्जनात्मकता में कवि-व्यक्तित्व के 'चरम' होने के बाद ही कविता चुकती है, जबकि इसके विपरीत 'दोतरफा' सर्जनात्मकता में—जिसमें कवि और परिवेश का सम्बन्ध समान धरातल पर एक-दूसरे के लिए एक अनवरत तनावपूर्ण चुनौती के रूप में होता है—कविता 'चरम' होने के साथ कवि चरम होता है। 'एकतरफा' सर्जनात्मकता में कविता इसीलिए एकालाप में सम्प्रेषित होती है और अस्थायी होती है, क्योंकि संलाप की स्थिति में सम्बन्धों में निरन्तर एक बदलाव और तज्जनित तनाव होता है जो टूट-टूटकर बनता और बन-बनकर टूटता चलता है। इसलिए 'दोतरफा' सर्जनात्मकता का आदर्श महान, या यदि पहले के शब्द इस्तेमाल करें तो, उदार, व्यापक, उच्च नहीं होता, वरन् वह होता है जो उनके बिना भी कविता को सार्थक रख सके।

साही, कुँवर नारायण और अज्ञेय की उल्लिखित कृतियों में 'एकतरफा' सर्जनात्मकता है, इसीलिए वे एकालाप में व्यक्त हो पाती हैं जो अपने प्रभाव में या तो आपको ऊँचाई पर ले जाकर परिशोधित करती हैं या फिर विरक्त करती हैं। साही की नैतिक संपृक्ति की सर्जनात्मकता उन्हें चुनौती तथा विचित्र अतिमानवीय परिदृश्यों में ले जाती है, कुँवर नारायण मृत्यु और जीवन के प्रश्नों की अर्थवत्ता की परीक्षा उपनिषद्कालीन नचिकेता के मानस-लोक में करते हैं, अज्ञेय 'आँगन के पार द्वार' में आत्मा के रहस्य लोक और 'उत्तर प्रियदर्शी' में ऐतिहासिक किंवदंती के नरक में 'करुणा प्रभामय' का पावन आलोक देखते हैं। इस प्रकार मानव-नियति के आधारभूत प्रश्नों को वे एक ऐसा कालातीत नैरन्तर्य प्रदान कर देते हैं जिसमें उन प्रश्नों की तात्कालिक सार्थकता का संदर्भ लुप्त हो जाता है और एक तरह से वे प्रश्न जिस संदर्भ और जिस भूमि में उठने चाहिए और जिस सन्दर्भ और भूमि में उनका सामना किया जाना चाहिए वह न होकर एक 'नो मैन्स लैण्ड' में उठने वाले प्रश्न हो जाते हैं, अर्थात् वे सनातन शाश्वत प्रश्न बन जाते हैं। और शाश्वत प्रश्नों के उत्तर के लिए कोई निजी सन्दर्भ, कोई यथार्थ भूमि, कोई जीवित परि-प्रवेश जरूरी नहीं होता। यह बात दूसरी है कि कवि केवल प्रश्न ही उठाकर रह जाय। साही और कुँवर नारायण ने सिर्फ प्रश्न उठाये हैं, अज्ञेय ने उत्तर भी दे डाले हैं। मुख्य बात यह है कि इन कृतियों में सर्जनात्मकता का स्तर या तो प्रश्नों के एकालाप का है या फिर प्रश्नों और उत्तरों के एकालाप का। इनमें अनुभूति का 'अपनापन' है, अनुभूति का

'दूसरापन' नहीं। इनकी सर्जनात्मकता की गति को इस रूप में रखा जा सकता है कविता—'शुद्ध' कविता—'महान्', (या उदार, व्यापक, उच्च) कविता, क्योंकि इसमें कवि का रूपान्तरण होता जाता है। जबकि 'दोतरफा' सर्जनात्मकता में कवि की गति यों होगी . कविता—कविता—कविता, क्योंकि इसमें कविता का नया जन्म होता जाता है। नैतिक संपृक्ति की दृष्टि से 'दोतरफा' सर्जनात्मकता के कवि के रूप में रघुवीर सहाय की कविताएँ द्रष्टव्य हैं। इनकी नैतिक संपृक्ति में कवि स्वयं परिवेश के बीच केन्द्रित होता है और उस परिवेश को सम्प्रेषित करने में ही अपने व्यक्ति-मन का आविष्कार करता है। उनका कवि अपने को 'सक्रिय' रखने के लिए अपने परिवेश को 'सक्रिय' रखता है, यह दूसरी बात है कि किस ओजार से परिवेश और अपने को भी सक्रिय रखना है इसका निर्णय स्वयं कवि का विवेक करता है। पर हर हालत में वह परिवेश पर या परिवेश उस पर हावी नहीं होता। रघुवीर सहाय अपनी नैतिक संपृक्ति में खुद को और अपने परिवेश को सक्रिय रखने का ओजार राजनीति को मानते हैं। यदि केवल ओजार से सक्रिय बनाने-होने को लिया जाय तो विपिनकुमार अग्रवाल की कविताएँ भी उसी 'दोतरफा' सर्जनात्मकता का परिचय देती हैं। लेकिन इसका विवेचन एक अलग ही प्रसंग है।

[१९६६]

डबडबाई आन्तरिकता

"बाह्य परिस्थितियों को बदलने से ही काम नहीं चल सकता, आदमी को भीतर से ही बदलना पड़ेगा" नया सवेरा आ रहा है, नयी रोशनी आयेगी, नयी जिन्दगी आयेगी, उसे कोई रोक नहीं सकता"'निश्चय ही। लेकिन उसका आधार इन्सानियत पर होगा, करुणा और संवेदना पर होगा ।"

ये पंक्तियाँ यद्यपि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के लघु-उपन्यास 'सोया हुआ जल' में आती हैं जो सर्वप्रथम १६५५ में प्रकाशित हुआ था, पर उनके काव्य व्यक्तित्व के निर्णायक तत्वों की छानबीन करने में, तथा उनकी विशिष्ट रचना स्थिति का मूल्यांकन प्रस्तुत करने में भी, इनका उपयोग बेहतर होकर किया जा सकता है। क्योंकि 'काठ की घंटियाँ' से 'बाँस का पुल' तक की यात्रा में ऊपर की पंक्तियों में निहित कवि का मूल विश्वास कभी निस्संकोच आग्रह बनकर, कभी विवश मोह बनकर बराबर ध्वनित होता रहा है। यात्रा के जिन पड़ावों पर उसका मोहभंग व्यक्त हुआ है और जहाँ वह फिर-फिर लौट आने को विवश अनुभव करता है, वे भी उस मूल विश्वास के परिप्रेक्ष्य में ही भोगे हुए व्यंग की मार्मिक भंगिमा ग्रहण कर सके हैं। अन्तर केवल इतना हुआ है कि पहले की सी दो टूक विज्ञप्ति दे सकने की स्फूर्ति अब एक कातर प्रतीक्षा में बदल गयी है अथवा मौन में सिमट गयी है। पर इस पर हम आगे विचार करेंगे।

सर्वेश्वर की काव्य-प्रतिभा जिन स्रोतों से परिचालित होती है उनमें 'आन्तरिकता' के प्रति बिना शर्त विश्वास एक केन्द्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित है, और इसका एक ऐतिहासिक संदर्भ भी है जिसकी ओर पुनर्दृष्टिपात कर लेना यहाँ गैरमुनासिब न होगा। नयी कविता के पहले साहित्य चेतना का नियमन अक्सर उन मूल्यों एवं कसौटियों के आधार पर होता था जिनका मनुष्य इकाई के रूप में व्यक्ति की आन्तरिकता—प्रचलित शब्दावली में कहें तो स्वानुभूति—से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता था, बल्कि जितने ही अंश में वह सम्बन्ध दूरतर और परोक्ष होता था उतना ही काव्य को यथार्थ का प्रतिनिधि माना जाता था। इस दृष्टिकोण ने छायावाद और प्रगतिवाद के दो मूल्य-स्तरों पर जिस रूढ़ि एवं हठधर्मिता का रूप अख्तियार कर लिया और उससे काव्य मूल्यों की जो हानि हुई उसके विपरीत वह बिल्कुल उल्टा दृष्टिकोण विकसित हुआ, जिसने युद्ध प्रतिक्रिया का फेन निथर जाने के बाद नयी कविता के आन्दोलन का रूप ग्रहण किया। नयी कविता ने अपने उन्मेषकाल में—जिसका एक छोर प्रयोगवाद से जुड़ा हुआ था—न केवल उस

आरोपित वाह्यलोक को नही माना वरन् स्वतन्त्र सर्जनात्मक प्रक्रिया के महत्त्व को प्रतिपादित कर एक अपना अन्तर्लोक भी रचा और मनुष्य को उस लोक के केन्द्र म प्रतिष्ठित किया। ध्यान देने की बात है कि बाह्यलोक का विरोध कर नया अन्तर्लोक रचन का काम छायावाद ने भी किया था, जैसा कि अन्तर्लोक का विरोध कर बाह्यलोक को प्रतिस्थापित करने का काम प्रगतिवाद ने किया। परन्तु छायावाद का विद्रोह किसी नवीन मानव-सम्बन्ध स्थापन की प्रेरणावश नही हुआ था, इसीलिए वह मुख्यत अमूर्त विचारो एव प्रत्ययो का काव्य बन कर रह गया। यदि सर्वेश्वर की काव्य-पीढी म छायावादी तत्वो से तारतम्य और विरोध ढूंढना हो तो इस अन्तर को दृष्टि मे रखना जरूरी होगा। इस काव्य-पीढी के सामने बाह्यलोक और अन्तर्लोक प्रत्यक्ष विद्यमान थे और उसकी समस्या उनम एक सार्थक सन्तुलन की खोज की थी। अज्ञेय ने दूसरा सप्तक मे 'तथ्य' और 'सत्य' अथवा 'वस्तु सत्य' और 'कवि सत्य' के जिस फर्क पर जोर दिया है, गौर करें तो उसकी पृष्ठभूमि मे उस समय की हवा म साथ साथ तैरते उन दोनो लोको की ही टकराहट सुनने को मिलेगी। सर्वेश्वर की आदमी को भीतर स बदलन की बात को भी उसी सिलसिले की अगली कडी के रूप म देखा जा सकता है।

अज्ञेय और सर्वेश्वर की तुलना यहां मेरा उद्देश्य नही है, पर कम से कम आन्तरिकता के प्रति उनकी इस समान मूलदृष्टि एव विश्वास की तुलना से 'बांस का पुल' के कवि को समझने म कुछ मदद मिल सकती है। अज्ञेय ने जब एक बार यह विवेक कर लिया कि क्या 'तथ्य' है और क्या 'सत्य', तब उनके सामने कोई उलझन नही रह जाती। उसके बाद से उनका काम रह जाता है कि अपने उस 'काव्य-सत्य' मे गहराई के अधिक से अधिक आयाम भरें या उस उच्चतम शिखर तक ले जायें। उनका निर्मम काव्य-सयम और उदात्त अभिव्यजना शक्ति न सिर्फ उस उलझन के अस्तित्व का ही निराकरण कर देती है वरन् वह उसका कारण भी है। युग सत्य को कवि सत्य के माध्यम से उपलब्ध करने के प्रयास मे अज्ञेय की सफलता असफलता का आकलन यहां समीचीन नही, पर इस दृष्टिकोण की अपर्याप्तता सर्वेश्वर की काव्य-सवेदना को अवश्य रेखाकित करती है। सर्वेश्वर यह कहते जरूर हैं कि मनुष्य की आन्तरिकता ही मूल्य रचना का आधार है, युग सदर्भ मे वही उसका एकमात्र सच्चा एव प्रामाणिक पक्ष है, किन्तु उनकी कविताएँ हमे यह भी बराबर महसूस कराती हैं कि वे इस दृष्टिकोण से अपने महत्त्वाकाक्षी काव्य-व्यक्तित्व की सम्पूर्ण सगति नही बिठा पाते। अन्दरूनी सच्चाई से बाहर उससे तटस्थ निरपेक्ष भी एक सच्चाई है, जो है, और जिसे एकमेव कवि की निपट असहायता की प्रतीति ही झेलने योग्य बना सकती है दृष्टि के किसी खास कोण से उसे अनुभूति मे पचा ले जाने की सामर्थ्य नही। सर्वेश्वर के लिए वे दो लोक दो स्वतन्त्र इकाइयां न होकर एक ही इकाई की दो तहें हैं; उनके अन्तर्लोक म भी उनका वाह्यलोक प्रतिबिम्बित होता रहता है, एक स्तर पर तो उस बाह्यलोक के फैलाव का अन्तर्लोक क सामने मौजूद रहना उसके अस्तित्व के लिए ही जरूरी हो जाता है। सर्वेश्वर आन्तरिकता की ही कसौटी पर बाह्य से तदाकार होते हैं, पर साथ ही उस अन्त प्रदेश के बाहर जो निर

कवि अस्तित्व के निपट अकेलेपन की स्थिति में 'हवा की मार से चीथड़ा हुए निस्तेज फीके झंडे' सा अपने को अनावृत्त वेगाना खड़ा पाता है—'यह वह दुनिया नहीं है जहाँ मेरे पूर्वज रहते थे /या जहाँ रहने के लिए मैं पैदा हुआ हूँ।' 'कभी कभी लगता है' अपने उस उत्तरदायित्व से ऊपर उठकर उस दर्द को पी जाने की इस बेलौस अनुभूति के क्षण से सर्वेश्वर जब वापस लौटते हैं तो उस उत्तरदायित्व का बोध उनकी रागात्मक तन्त्री को और भी झनझनाने लगता है। वे 'बाहर' की रिक्तता को अपने अन्दर के 'रस' से पूरना चाहते हैं। शायद इसी तरह वे उस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर सकते हैं।

किन्तु बाहर की खोखल को भीतर के रस से पूरने का काम दिनोदिन मुश्किल होता जाता है— जिसमें जितना ही रस होता है, वह उतना ही निःशब्द टूटता है।' अतः ऐसा कर पाने के विश्वास के खण्डित हो जाने पर कवि 'होंठ काट कर रह जाता' है। 'बाँस का पुल' की अधिकांश कविताओं में सर्वेश्वर की राग तन्त्री से फूटने वाली झनकार विवशता और असफल प्रतीक्षा की झनकार बन जाती है। वे स्वीकार करते हैं कि उनके लिए 'यात्रा' अब धर्म नहीं विवशता है।' यह विवशता सर्वेश्वर की कविताओं में मुद्रा बन कर नहीं प्रकट हुई है, उसे वे एक निष्ठा की तरह जीते-से लगते हैं। विवशता की यह निष्ठा ही उन्हें व्यापक मानव मर्म से जोड़ती है, और यही इनके काव्य स्वर की आत्मीयता का भी कारण है। सम्भवतः इस ऋजुताशील आत्मीयता के कारण ही सर्वेश्वर की कविताओं में कहीं भी कुछ ऐसा ठोस वैचारिक तत्त्व नहीं होता जिसे पकड़ कर सीधे कवि के व्यक्तित्व को स्थानबद्ध किया जा सके कवि अपनी कविताओं में एक खुशबू की तरह बसा हुआ लगता है। सर्वेश्वर के सामान्य पाठकों को उनकी यह चीज ही सबसे अधिक आकर्षित करती है।

पर काव्यानुभूति की इस ऋजुता में कहीं कहीं अनुभूति का सौन्दर्यात्मक पक्ष भी पीछे छूट जाता है। ऐसी कविता—जिसके उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत काव्य-संग्रह की कम से कम एक कविता 'ओ युद्ध भूमि में लड़ने वाले सैनिको' का नाम लिया जा सकता है—मानो कविता होने की सीमा को भी अतिक्रान्त कर देने को उत्सुक दिखाई देती है। सर्वेश्वर अपनी अभिव्यक्ति में अपने अनुभूत युगबोध का जटिल रूप-विधान नहीं रचते, सम्भवतः उससे कतराते भी हैं। इसके विपरीत उनमें यह चेष्टा (उनकी सहज जीवन मूल्योन्मुखी ऋजुता के आग्रहवश ही) अवश्य दिखाई देती है कि वे अपनी बात का सीधा मर्म जगाने के लिए कविता पर से 'कविता' का मुखौटा भी उतार दें।

एक दूसरे स्तर पर सक्रिय सौन्दर्यबोध की कमी उन कविताओं में भी दिखाई देती है जो महज प्रकृति के दृश्य रंगों को ही उभारती हैं। उदाहरण के लिए संग्रह की 'सूरज नट', 'साँझ एक चित्र', 'दस्तकारी की दुकान', 'जाड़े की धूप','आये महंत बसन्त' आदि कविताओं को लिया जा सकता है जो चित्रात्मक वर्ण शिल्प, ध्वनि रंग-संयोजन और मजी हुई अभिव्यक्ति की दृष्टि से पूर्ण होते हुए भी किसी सक्रिय सौन्दर्य बोध का पक्ष नहीं उद्घाटित करतीं। प्रकृति सम्बन्धी कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं जिनमें कवि द्वारा अपनी आन्तरिक रिक्तता को बाहर की मनोरम दृश्य रागानुभूति में विसर्जन देने की

मन स्थिति के अकन की चेष्टा है। पर इस चेष्टा मे भी वह हमेशा सफल नही होता स्मृति की सूखी डाल रह-रह कर हिल जाती है।

सर्वेश्वर की प्रतिमा प्रश्नमुखी है, यद्यपि यह सही है कि मोह और विवशता की मन स्थितियो से उबर कर वे किसी क्रियात्मक जीवन बोध के स्तर पर आघात नही करते। वे अपनी काव्य-चेतना के जिस सधि-बिन्दु पर है वहाँ मानो आकर परस्पर मिलती हुई उनके बाह्यलोक तथा अन्तर्लोक की दो धाराएँ अपनी चरम उपलब्धि प्राप्त कर चुकी हैं, इसलिए उनका प्रश्न जो आह्वान बनकर व्यक्त हुआ है ('निडर आगे बढो—/तुम्हारी राह म यह एक छोटा सा बाँस का पुल है) उनके काव्य स्वर की थकान म एक फीकी लालसा बनकर रह गया है—

अब मैं कुछ कहना नही चाहता,
सुनना चाहता हूँ
एक समर्थ सच्ची आवाज
जो कही हो।

'अत मे'

सर्वेश्वर अपनी सघर्षशील काव्य पीढी की विरासत के समर्थ और सच्चे कवि हैं। उन्होने अपनी पीढी की विसगतियो और व्यग्य स्थितियो को काव्य के स्तर पर सबसे अधिक जागरूक, सम्पृक्त और आत्मीय रूप मे पहचाना है पर उनकी काव्य प्रक्रिया अनुभूतिगत परिवेश की जिन वैयक्तिक मजबूरियो तथा भावबोध के जिन विशिष्ट सवदनो से परिचालित होती है उन्होने उनकी दृष्टि के आगे एक ऐसा बन्धन लगा रखा है जो उन्हे कविता मे तटस्थ एव निर्वैयक्तिक भावबोध की आधुनिकता के साथ साथ आगे जाने नही देता। उनम अपन बन्धनो को तोडने की कामना जरूर है पर यह कामना उनम या तो एक भावुक आवेश पैदा करके रह जाती है या फिर प्रतीक्षा के अन्धकार मे डूब जाती है। परिणामत जिस बाह्यलोक और अन्तर्लोक की परस्पर टकराहट से उद्भूत रचनात्मक प्रश्नशीलता मे उद्रेक से सर्वेश्वर की कविताएँ शुरू होती हैं वही पर वे समाप्त भी हो जाती है। सर्वेश्वर की विपन्नता उनकी पीढी की विफलता है और उनकी उपलब्धि उनके व्यक्तित्व की उपलब्धि, जो नयी कविता की भी उपलब्धि है। 'बाँस का पुल' उनकी और नयी कविता की उन्हा उपलब्धियो का सूचक है, आगे की सम्भावनाओ का सकेत चाहे वह न भी हो। (१९६४)

०० ०० ००

'एक सूनी नाव' की कविताएँ सर्वेश्वर की काव्य सवेदना के विस्तार की कविताए नही हैं, न ही वे नयी कविता की सवेदना के विस्तार की कविताएँ हैं। वे सर्वेश्वर के काव्य स्वर की थकान की कविताएँ हैं। और यह बिल्कुल अजब नही कि इस बात का सबसे अधिक अहसास स्वय कवि को ही है, क्योकि 'एक सूनी नाव' की कविताएँ मूलत ईस्टिकट पर चलने वाले एक ईमानदार आदमी की कविताएँ हैं।

लेकिन कवि मे यह थकान क्यो है ? कवि के पिछले काव्य-सग्रह (बाँस का पुल) की कविताओ को याद कर इस सग्रह की कविताएँ पढते समय इस प्रश्न का उत्तर किसी भी जागरूक पाठक को मिल जायेगा। नही तो स्पष्ट रूप से स्वय कवि ने ही लिखा है :

अपने को दोहराते-दोहराते
अब मैं थक गया हूँ
....
जिसको आना हो आये
जाता हूँ मैं

यह मात्र काव्य-उक्ति नही है, बल्कि इस कथन मे कवि की अनुभूति की पूरी सच्चाई व्यक्त हुई है। उस 'दुहराव' की अनुभूति की सच्चाई का इससे बढ़कर सबूत और क्या होगा कि कुछ इसी आशय की पक्तियाँ अनुभूति की पूरी सच्चाई के साथ 'बाँस का पुल' मे भी व्यक्त की गई थी

अब मैं कुछ कहना नही चाहता
सुनना चाहता हूँ
एक समर्थ सच्ची आवाज ··

यहाँ फर्क सिर्फ यह है कि 'बाँस का पुल' मे यह थकान कवि को यात्रा के अन्त मे महसूस हुई थी और 'एक सूनी नाव' मे यह थकान कमोवेश शुरू से ही मौजूद है और सग्रह के अन्त तक पहुँचते पहुँचते अन्तिम कविता मे बडे वेग से अपने ऊपर फेंकी गयी तोहमत की तरह व्यक्त हो गयी है।

इस तरह एक बात स्पष्ट है कि 'एक सूनी नाव' की कविताओ के कवि को अधिक नजदीक से समझने के लिए 'बाँस का पुल' की कविताओ मे बार बार जाना पडेगा, दर-असल अनेक स्तरो पर दोनो के बीच एक समान पथ जाता है जिधर से होकर कवि गुजरा है। यह अप्रासगिक नही कि 'बाँस का पुल' की शुरुआत 'यात्रा अब धर्म नही, विवशता है' के आरम स्वीकार से होती है और 'एक सूनी नाव' की पहली कविता इस बोध को रेखाकित करती हुई समाप्त होती है कि 'अक्सर एक व्यथा यात्रा बन जाती है।' इसके अलावा स्थूल रूप से लें तो काव्य विषय, चित्र बिम्ब और प्रतीक तथा बहुत कुछ भाषा के मामले मे भी दोनो सग्रहो मे बहुत सी समानताएँ हैं। और तो और 'एक सूनी नाव' की कई कविताओ मे 'बाँस का पुल' की कविताओ की अनुगूज, स्वर का खास लहजा और भाव-सगीत भी सुनाई पड जाता है। जैसा कि ऊपर सकेत किया गया, सिर्फ एक चीज दोनो सग्रहो को अलग करती है—*अनुभूति की तीव्रता*। दोनो मे *अनुभूति का प्रकृतिगत* स्तर समान होते हुए भी 'एक सूनी नाव' मे उसकी विशिष्टता खो गयी है, क्योंकि उसमे 'बाँस का पुल' की तीव्रता नही रही। अनुभूति की इस तीव्रता, दूसरे शब्दो मे अनुभूति की विशिष्टता, का न होना ही वह थकान है जिसे पाठक के साथ-साथ खुद कवि भी महसूस करता है।

इस थकान का उत्स सर्वेश्वर के कवि-व्यक्तित्व की उस प्रकृति मे निहित है जिसमे न सिर्फ कोई तात्विक परिवर्तन घटित नही हुआ, वरन् जो किसी भी परिवर्तन को चुनौती देकर ही खड़ा रह सकता है। 'एक सूनी नाव' के फ्लैप पर छपी इन पक्तियों पर गौर कीजिये जहाँ 'बाँस का पुल' के बिम्ब (बिम्ब या प्रतीक ?) की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि बाँस का पुल 'लचीला, केवल नमन शील नही होता बल्कि (उसका गुण) [illegible]रित होकर भी फिर बिना विकृति के अपने स्थान पर लौट आना है।'

अत यह कहा जा सकता है कि कवि की थकान एक जगह सतत खड़े रहने से उपजी थकान है। आश्चर्य यहाँ उस थकान के होने मे नही है, बल्कि इसम है कि क्यों कवि 'विकृत' हो जाने के भय से जीवन की कर्ममय सपृक्ति की ग्राहक दृष्टि का निषेध कर खुद ही अपनी यात्रा का मार्ग बन्द कर देता है।

लेकिन इस पहलू के विस्तार मे जाने से पहले उस जमीन का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है जिस पर कवि खड़ा है। 'बाँस का पुल' के विवेचन सदर्भ मे कुछ बातो पर विचार किया गया है। यहाँ मैं कवि की सर्जनात्मकता के मूल प्रेरक तत्व, उसके आत्म-सघर्ष को ही, प्रस्तुत काव्य-सग्रह के परिप्रेक्ष्य मे फिर से उठाऊँगा।

सर्वेश्वर का आत्मसघर्ष मनुष्य-जीवन के 'भीतर' की 'सच्चाई और 'बाहर' की सच्चाई को लेकर है। कवि एक के लिए दूसरे का परित्याग नही कर पाता' वरन् दोनो की परस्पर टकराहट को भोगता है। इस टकराहट मे वह मानव अनुभूतियो की उन क्राइसिसो का साक्षात्कार करता है जिनकी व्याप्ति आज के विध्वंसग्रस्त मानव-मूल्यो और जीवन के कटु विद्रूपो तक है। यहाँ यह समझ लेना भूल होगी कि सर्वेश्वर की बेचैनी 'भीतर' और 'बाहर' की उस टकराहट के बीच कोई अर्थपूर्ण सामजस्य स्थापित करने की—उन्हे किसी एक तीसरे सत्य मे सघटित करने की है। इसके विपरीत 'बाहर' और 'भीतर' का आपस मे निरन्तर तनावपूर्ण सह-सम्बन्ध बनाये रखना कवि को अपने 'जीवित' होने को महसूस करने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। यह उसकी सवेदना को पैना और धारदार बनाने के साथ-साथ उसे 'यात्रा' का—मानव सत्यो की प्रतीति के अन्तराल म चलते रहने का—भी बोध देता है। इस तनावपूर्ण सह-सम्बन्ध की आग को सर्वेश्वर अपने भाव सवेगों की आहुति देकर जीवित रखते हैं, इसीलिए वे उस तनाव को 'प्रबल आवेग' से महसूस करते हैं और हमेशा उस 'हरहराते निर्मल, निर्द्वन्द्व प्रवाह' की कामना करते हैं जो उन्हे बहा ले जाय और चूर कर दे। वस्तुत उस तनाव को अक्षुण्ण रूप से महसूस करते रहना कवि के लिए एक आस्था का दर्जा रखता है। इसीलिए जब कभी 'बाहर' और 'भीतर' के तनावपूर्ण सह-सम्बन्ध की चेतना को कवि अपनी अनुभूति मे एक चुभते हुए काँटे की तरह बनाये रखने मे असमर्थ हो जाता है, तब उसे लगता है कि वह अपने कवि-धर्म से चूक गया है, अपने आप से निर्वासित स्वप के लिए पराया हो गया है जिससे उसकी परछाईं तक घृणा करने की हकदार हो जाती है।

भाव सवेगो के कवि सर्वेश्वर की यह शक्ति ही मानी जायगी कि अपनी काव्य-यात्रा के आरम्भ से लगभग अब तक वे बाहर-भीतर के उस तनावपूर्ण सह-सम्बन्ध को

अपनी अनुभूतियो मे बराबर जिलाते आये हैं और नयी कविता से आज की कविता के क्रमश अलग होते हुए भावबोध के वृत्त से निरतर छूटते जाकर भी आज के जीवन बोध के मूल म निहित व्यापक सर्जनात्मक बेचैनी और असतोप से जुडे रह सके हैं। किन्तु 'बाँस का पुल' के अन्त तक पहुँचकर कवि को यह भी लगने लगा कि केवल 'सपूर्ण आवेगो' की ही शक्ति पर बाहर-भीतर के अन्तर्द्वन्द्व का यह नाजुक सतुलन तेजी से बदलते हुए समय-परिदृश्य मे अधिक देर तक कायम नही रह सकेगा। सर्वेश्वर उस तनाव को किसी अमूर्त्त जीवन-दर्शन मे अतिक्रमित नही कर सके तो इसकी वजह यह है कि उसके लिए जिस सजग बौद्धिक आधार की आवश्यकता होती है, वह उनमे नही है। दूसरे, जैसा कि पहले कहा गया, इस तनाव को कायम रखने के सिवा किसी समाधान या अन्वेपित सत्य की तरफ बढना कवि का अभीष्ट भी नही है। यह आवश्यक नही कि कवि किसी समाधान अथवा अन्वेपित सत्य की ओर बढे ही, पर सर्वेश्वर के कवि व्यक्तित्व की ट्रेजेडी यह है कि वे उस तनाव को सिर्फ और सिर्फ भाव-सवेगो के धरातल पर ही बनाये रखना चाहते हैं। उनकी काव्य दृष्टि उन तनावो के अधिक जटिल और गहन नैतिक रूपो तक नही जाती। दरअसल वे कोई बडा जोखिम उठाना नही चाहते, अपने को नैतिक रूप से किसी अराजक स्थिति मे डालना नही चाहते। अफसोस तो यह है कि जोखिम से बचने की प्रक्रिया मे वे अपने कवि कर्म की बुनियादी जमीन—बाहर-भीतर के तनावपूर्ण सह-सम्बन्ध की चेतना को भाव-सवेगो की लौ से दीप्त रखने की प्रक्रिया—पर भी हमेशा की तरह मजबूती और आस्था से टिके नही रह सके हैं। 'एक सूनी नाव' की कविताएँ इसे बखूबी स्पष्ट कर देती हैं।

इस सग्रह की कविताएँ पढकर दो बातें सामने आती हैं—एक तो इस सग्रह मे प्रेमपरक कविताओ की सख्या सबस ज्यादा है, दूसरे इसमें बाहर-भीतर की टकराहट का वैसा सीधा और प्रखर साक्षात्कार नही है जैसा हमे 'बाँस का पुल' मे मिलता है। प्रेम का विषय कवि के लिए अधिकाश मे टकराहट के दश से पलायन कर स्मृति के अन्तरग क्षेत्र म जाने की सुविधा प्रदान करता है। इस पलायन का एक विषय प्रकृति भी है, पर सर्वेश्वर की कविताओं म अक्सर प्रेम और प्रकृति एक-दूसरे म घुलमिल कर आते हैं। लेकिन बाँस का पुल' की प्रेमपरक कविताओ की पृष्ठभूमि मे उस तनाव की अनुगूँज बराबर सुनाई पडती है—कवि समर्पण और प्रेम-विस्मृति के क्षण म भी अपने अन्तर्द्वन्द्व को छिपा नही पाता—और इसी कारण उन कविताओ का स्वर अधिक गहरा और तीखा है और मार्मिक करुणा की एक सूक्ष्म लकीर उनम शुरू से आखिर तक दौडती है। अत उनकी अभिव्यक्ति म एक ऐसा सश्लिष्ट कसाव है जो खूब खीचकर छोडे गये तीर की तरह अपने निशाने पर अचूक बैठता है। 'एक सूनी नाव' की प्रेमपरक कविताएँ उस तनाव की छाया से मुक्त है, पर उनम पूर्ण तन्मयता भी नही है। स्मृति के क्षणो मे पहले वाली डुबान, डूबकर उबरने की तडफडाहट और उनके छूटते जाने की गतिजनित तीव्रता नहीं रही, बल्कि अब स्मृतियो को मक्खियाँ समझने के मिनिमिज्म का भाव भी आ गया है। असल मे ये कविताएँ प्रेम की कविताएँ न होकर प्रेम की प्रतिध्वनि की कविताएँ

हैं। प्रकृति का रूप भी इनमें काफी हद तक पालतू हो गया है। सर्वेश्वर अपनी अभिव्यक्ति के बहुत से औजार प्रकृति से ही जुटाते हैं, पर बार-बार के इस्तेमाल से ये औजार अब भोथरे हो गये हैं और सघन उपयोग के बावजूद मन पर मर्म की कोई खरोंच नहीं पैदा कर पाते। इसके अलावा 'एक सूनी नाव' की कुछ कविताओं में, जिनमें अपेक्षाकृत जटिल नगरबोध-जनित काव्य-संवेदना का अंकन किया गया है, प्रकृति से लिये गये अभिव्यक्ति के इन औजारों का उपयोग खटकाना लगता है। 'चाँद जेब में पड़ा हुआ', 'सूरज की गिलहरी पेड़ पर बैठी आती है', 'दुनिया मटर का दाना', 'दृष्टि कनटोप सा लगाती है', 'खामोशी कपड़े पहनाती है', 'नीला जाँघिया पहने चाँद', 'बादल का सुथन्ना पहने भविष्य', 'किरनों के छाते लिये बूँदें', बर्फ के मोजे पहने प्यार' आदि (ये उदाहरण संग्रह के शुरू की केवल दो कविताओं से हैं) तथा और भी इसी तरह के प्रयोग गाँव और कस्बे के भावबोध वाली कविताओं के साथ तो खप सकते हैं पर शहर के वयस्क और जटिल भावबोध वाली कविताओं में ऐसे प्रयोग बदमजगी ही पैदा करते हैं। फिर कवि के इस तीसरे संग्रह में भी इन प्रयोगों को देखकर—जोकि रचनात्मक अन्वेषण के जोखिमपूर्ण काम के स्थान पर रचनात्मक सुविधा को पकड़े रहने की वृत्ति से उपजे हैं—इसी बात की पुष्टि होती है कि कवि एक बिन्दु पर ठहर गया है। उसके स्वर में वह पहले वाली लड़खड़ाहट नहीं रही जो रचनात्मक द्वन्द्व की तीव्रता का परिचय देती थी, बल्कि एक निश्चितता आ गयी है, अभिव्यक्ति का एक सधापन जो उन्हीं उन्हीं औजारों के बार-बार प्रयोग करने के अभ्यास से आता है।

नये औजारों की तलाश रचनात्मक स्तर पर मानव-अनुभूतियों की नयी क्राइसिसों के साक्षात्कार में होती है और लगता है जिस मूड में कवि इस संग्रह की कविताओं में पहुँच चुका है, उसमें वह किसी नयी क्राइसिस में पड़ना नहीं चाहता। कवि की रचनात्मक चेतना में यह बाहर-भीतर का संघर्ष समाप्त नहीं हो गया है, पर वे अब एक-दूसरे के प्रति तीव्रता से प्रतिक्रिया नहीं करते। कभी-कभी तो यह भी लगता है कि उनके आपसी सम्बन्धों में उदासीनता का तत्व भी आ गया है। न सिर्फ यह, बल्कि कवि में उनकी द्वन्द्वात्मक स्थिति की रचनात्मक अर्थवानता के प्रति एक अनिश्चय और सन्देह का भाव भी विकसित होता दिखाई पड़ने लगा है। सर्वेश्वर जब यह कहते हैं कि

भेद कठिन कुट्टिम छत
टपकी एक बूँद
इस घोर वृष्टि से
पूर्ण पृथक हो
....
वह मेरी है
मैं उसका हूँ
बाहर का विशाल जल प्लावन सदा पराया।

'एक बूँद'

औसत भारतीयता का कवि

(दिगन्त' पढने के बाद एक प्रतिक्रिया)

चाहे जिस भी नजर स देखें घूम फिरकर एक ही बात मन म आती है कि त्रिलोचन की कविता एक ठठ भारतीय जन की कविता है। इस अहसास के साथ ही कही यह प्रश्न भी मन म अकुरित होता है कि यह भारतीय जन कैसे अब भी भारतीय रह गया है ? इस प्रश्न की गुत्थी के तागे अलग अलग करने की कोशिश करता हूँ तो इसमे से दूसरे कई प्रश्न और निकलते है जो मूल प्रश्न की गुत्थी को सुलझाने के बजाय स्थिति का एक जटिल रूप सामने रखते है। भारतीयता इस शब्द प्रत्यय स जूझने की चेष्टा राजनीतिक, सास्कृतिक और साहित्यिक स्तरो पर पिछले दिनो बहुत जोर शोर से की गयी। यह चेष्टा अभी खत्म नही हो गई है। उसकी गूजें मेरे दिमाग म हैं। क्या 'भारतीयता अब भी एक जीव त मूल्य बोध है या वह महज एक इतिहास बोध रह गयी है, जिसका अथ सिफ हमारी स्मृति म सुरक्षित है और जिसस हमारी सवेदना, हमारी दृष्टि और हमारा कम एक लाचारी की हालत म जुडे हुए हैं ?

तो क्या त्रिलोचन की कविता भारतीयता के इतिहास बोध की कविता है ? —भारतीयता क एक एस बोध की कविता जो हमम सूखे नल की तरह बूद बूद अब भी रिसता है ?—मूल्यवान पर व्यथ, साथक पर अप्रासगिक ?

मूल्य विकल्प हीनता के तनाव म सवदना की शिराऐं खिचती चली जाती हैं —इस खिचाव के चरम छोर पर उदासीनता और ऊब बैठी है—कि ऐस ही किसी क्षण म (ऐसा दुलभ क्षण जब स्वयम् पर से चेतना का अकुश थोडा ढीला पड जाता है) भारतीयता के इतिहास बोध की झरी हुई लाचार बूद इकट्ठी हो जाती हैं। बदली हुई परिस्थितियो स अर्जित आधुनिकता (और अ तर्राष्ट्रीयता) की प्रखरता और सजगता भी रस स्निग्ध भारतीयता को जला-तपा कर महज रिसता हुआ इतिहास बोध ही बना पाई (मृतक का स्मारक नही), उसका एक खण्ड खण्ड आकार उभरने लगता है। त्रिलोचन की कविता पढने पर लगता है जैसे वे खण्ड खण्ड आकार हमम अब भी कही जीवित पड हैं।

भारतीयता शब्द का इस्तेमाल आज खतरे से खाली नही है जानता हूँ। इसम लोगो को सकीणता और अबौद्धिकता की बू आन लगी है। पर मू य विकल्पहीनता की स्थिति म जो अहसास अब भी हमारी सवदना क इद गिद मँडराते हैं उनकी पहचान

के लिये भारतीयता से बढ़कर उपयुक्त और कौन-सा शब्द हो सकता है?

हाँ, अपनी यही पहचान हम त्रिलोचन की कविता मे पाते हैं। एक दुखती हुई पहचान। यह पहचान, हमें हमारी उन जड़ो की ओर ले जाती है, जिनमे से कुछ सूख गई हैं, कुछ सूख रही हैं, पर कुछ मे से अब भी रग फूट रहा है। त्रिलोचन की कविता खुद उन जड़ो की उपज है, पर साथ ही उन जड़ो की पहचान करवाने वाला गुण भी उसमे है, यानी तटस्थता। त्रिलोचन उन जड़ो के प्रति सम्पृक्त हैं, पर उनकी सम्पृक्ति जागी हुई है, स्वप्नमोहाविष्ट नही।

यहाँ ध्यान रहे कि त्रिलोचन की भारतीयता के गुण स्पृहणीय या धर्मानुवाची नही है, बल्कि यह इस देश की जातीय काल-परम्परा का वह चिह्न-समूह है जिसके नक्श यहाँ के औसत आदमी के दिलो-दिमाग पर अब भी कायम हैं। त्रिलोचन की कविता उसी औसत भारतीय आदमी की कविता है। इस औसत भारतीय की जिन्दगी मे एक ओर जहाँ यथार्थ की कटु सच्चाइयों से दो चार होते रहने से उपजा ठोसपन है, तो दूसरी ओर वह सहज भावुकता भी है जो जरा-सी आँच लगते ही सुख-दुख के तरल रंग मे पिघलने लगती है। उसकी दृष्टि की पकड अत्यन्त वस्तुपरक, ठोस मूर्तमान है। वह अँधेरे को अँधेरा ही कहना जानता है, बल्कि अँधेरे को अँधेरा कहने को अपना अधिकार मानता है। अगर आस-पास हरियाली न हो तो यथार्थ को हरा दिखाने के लिए हरे चश्मे की छलना उसे पसन्द नही। त्रिलोचन के प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सटीक ब्यौरो मे, ठेठ भाषा-प्रयोग मे, और जीवन के घटित को छोटे-छोटे सजीव पात्रो की सृष्टि कर नाटकीय यथार्थ मे बदल देने के पीछे भी क्या इस औसत भारतीय जन की अचूक व्यावहारिक प्रतिभा नही काम कर रही है? इस वस्तुपरक दृष्टि के रहते ही वह औसत आदमी अपनी औक़ात जानता है, अपनी शक्ति और कमजोरी, अपनी इच्छाएँ जो आकाश छूने का दम्भ नही पालती, अपनी मर्यादा और नेम, आहत होकर भी न झुकने का अभिमान और तब तक सब कुछ सहन करने का अटूट धैर्य जब तक कि पूरब मे उजास न फूटे।

पर आम तौर पर मूर्त और ठोस को साथ रखने वाले इस औसत आदमी के भीतर कही एक छोटा-मोटा दार्शनिक भी छिपा बैठा है। जीवन के मूर्त प्रसगो मे सुख-दुख के क्षणों को तीव्रता से भोगते हुए भी पता नही किस पल मे उसका चित्त उचाट हो जाता है और उसकी सवेदना-दृष्टि अमूर्त की ओर मुड जाती है। जो कुछ उसका अपना नितान्त निजी है, वह सहसा सार्वभौमिक, सार्वलौकिक हो जाता है। जिन्दगी के तन्मय क्षणो की कथा कहानी कहते कहते उसका स्वर एकाएक उदात्त हो उठता है और व्यक्ति का सत्य सम्पूर्ण मानव का सत्य बन कर किसी सूक्ति मे फूट पडता है। इस तरह की सूक्तियो से दिगन्त भरा पडा है। यह आदमी राग के प्रबल क्षणों का आकर्षण महसूस करते हुए, विराग की रागिनी अलापने लगता है। भावना के हिलकोरो मे बहते-बहते गूढ ज्ञान की बातें करने लगता है। एक साधारण जन के अ-रोमानिटक जीवन सघर्ष मे खटते हुए भी, उसे तात्कालिक अर्थ सन्दर्भों मे व्यक्त न कर प्रकाश और अधकार की शाश्वत लडाई को उदात्त रूपकवाली भाषा मे व्यक्त करता है।

ओसत भारतीयता का कवि

('दिगन्त' पढने के बाद एक प्रतिक्रिया)

चाहे जिस भी नजर से देखें, घूम-फिरकर एक ही बात मन मे आती है कि त्रिलोचन की कविता एक ठेठ भारतीय जन की कविता है। इस अहसास के साथ ही कही यह प्रश्न भी मन म अकुरित होता है कि यह भारतीय जन कैसे अब भी भारतीय रह गया है ? इस प्रश्न की गुत्थी के तागे अलग अलग करने की कोशिश करता हूँ तो इसमे से दूसरे कई प्रश्न और निकलते है, जो मूल प्रश्न की गुत्थी को सुलझाने के बजाय स्थिति का एक जटिल रूप सामने रखते है। 'भारतीयता', इस शब्द-प्रत्यय से जूझने की चेष्टा राजनीतिक, सास्कृतिक और साहित्यिक स्तरो पर पिछले दिनो बहुत जोर-शोर से की गयी। यह चेष्टा अभी खत्म नही हो गई है। उसकी गूँजें मेरे दिमाग मे हैं। क्या 'भारतीयता' अब भी एक जीवन्त मूल्य-बोध है या वह महज एक इतिहास बोध रह गयी है, जिसका अर्थ सिर्फ हमारी 'स्मृति' मे सुरक्षित है और जिससे हमारी सवेदना, हमारी दृष्टि और हमारा कर्म एक लाचारी की हालत मे जुड़े हुए हैं ?

तो क्या त्रिलोचन की कविता भारतीयता के इतिहास-बोध की कविता है ? —भारतीयता के एक ऐसे बोध की कविता, जो हमम सूखे नल की तरह बूंद-बूंद अब भी रिसता है ? —मूल्यवान पर व्यर्थ, सार्थक पर अप्रासगिक ?

मूल्य विकल्प-हीनता के तनाव मे सवेदना की शिराएँ खिचती चली जाती हैं —इस खिचाव के चरम छोर पर उदासीनता और ऊब बैठी है—कि ऐसे ही किसी क्षण मे (ऐसा दुर्लभ क्षण, जब स्वयम् पर से चेतना का अकुश थोडा ढीला पड जाता है) भारतीयता के इतिहास-बोध की झरी हुई लाचार बूंदें इकट्ठी हो जाती हैं। बदली हुई परिस्थितियो स अर्जित आधुनिकता (और अन्तर्राष्ट्रीयता) की प्रखरता और सजगता भी रस-स्निग्ध भारतीयता को जला-तपा कर महज रिसता हुआ इतिहास-बोध ही बना पाई (मृतक का स्मारक नही), उसका एक खण्ड-खण्ड आकार उभरने लगता है। त्रिलोचन की कविता पढने पर लगता है जैसे वे खण्ड-खण्ड आकार हममे अब भी कही जीवित पड़े है।

भारतीयता शब्द का इस्तेमाल आज खतरे से खाली नही है, जानता हूँ। इसमे लोगो को सकीर्णता और अबौद्धिकता की बू आने लगी है। पर मूल्य विकल्पहीनता की स्थिति मे जो अहसास अब भी हमारी सवेदना के इर्द-गिर्द मँडराते हैं, उनकी पहचान

के लिये भारतीयता से बढ़कर उपयुक्त और कौन-सा शब्द हो सकता है?

हां, अपनी यही पहचान हम त्रिलोचन की कविता मे पाते हैं। एक दुखती हुई पहचान। यह पहचान, हमें हमारी उन जडो की ओर ले जाती है, जिनमे से कुछ सूख गई हैं, कुछ सूख रही हैं, पर कुछ मे से अब भी रस फूट रहा है। त्रिलोचन की कविता खुद उन जडो की उपज है, पर साथ ही उन जडो की पहचान करवाने वाला गुण भी उसमे है, यानी तटस्थता। त्रिलोचन उन जडो के प्रति सम्पृक्त है, पर उनकी सम्पृक्ति जागी हुई है, स्वप्नमोहाविष्ट नही।

यहाँ ध्यान रहे कि त्रिलोचन की भारतीयता के गुण स्पृहणीय का पर्यायवाची नही है, बल्कि वह इस देश की जातीय काल परम्परा का वह चिह्न-समूह है जिसके नक्श यहाँ के औसत आदमी के दिलो-दिमाग पर अब भी कायम है। त्रिलोचन की कविता उसी औसत भारतीय आदमी की कविता है। इस औसत भारतीय की जिन्दगी म एक ओर जहाँ यथार्थ की कटु सच्चाइयो से दो चार होते रहने से उपजा पोढापन है, तो दूसरी ओर वह सहज भावुकता भी है जो जरा-सी आँच लगते ही सुख-दुख के तरल रगो मे पिघलने लगती है। उसकी दृष्टि की पकड अत्यन्त वस्तुपरक, ठोस मूर्तमान है। वह अँधेरे को अँधेरा ही कहना जानता है, बल्कि अँधेरे को अँधेरा कहने को अपना अधिकार मानता है। अगर आस पास हरियाली न हो तो यथार्थ को हरा दिखाने के लिए हरे चश्मे की छलना उसे पसन्द नही। त्रिलोचन के प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सटीक ब्यौरा म, ठेठ भाषा-प्रयोग मे, और जीवन के घटित को छोटे-छोटे सजीव पात्रो की सृष्टि कर नाटकीय यथार्थ मे बदल देने के पीछे भी क्या इस औसत भारतीय जन की अचूक व्यावहारिक प्रतिभा नही काम कर रही है? इस वस्तुपरक दृष्टि के रहते ही वह औसत आदमी अपनी औकात जानता है, अपनी शक्ति और कमजोरी, अपनी इच्छाएँ जो आकाश छूने का दम्भ नही पालती, अपनी मर्यादा और नेम, आहत होकर भी न झुकने का अभिमान और तब तक सब कुछ सहन करने का अटूट धैर्य जब तक कि पूरब मे उजास न फूटे।

पर आम तौर पर मूर्त्त और ठोस को साथ रखने वाले इस औसत आदमी के भीतर कही एक छोटा-मोटा दार्शनिक भी छिपा बैठा है। जीवन के मूर्त्त प्रसगा मे सुख-दुख के क्षणो को तीव्रता से भोगते हुए भी पता नही किस पल मे उसका चित्त उचाट हो जाता है और उसकी सवेदना-दृष्टि अमूर्त्त की ओर मुड जाती है। जो कुछ उसका अपना नितान्त निजी है, वह सहसा सार्वभौमिक, सार्वलौकिक हो जाता है। जिन्दगी के तन्मय क्षणो की कथा कहानी कहते कहते उसका स्वर एकाएक उदात्त हो उठता है और व्यक्ति का सत्य सम्पूर्ण मानव का सत्य बन कर किसी सूक्ति म फूट पडता है। इस तरह की सूक्तियो से 'दिगन्त' भरा पडा है। यह आदमी राग के प्रबल क्षणा का आकर्षण महसूस करते हुए, विराग की रागिनी अलापने लगता है। भावना के हिलकोरो मे बहते-बहते गूढ़ ज्ञान की बातें करने लगता है। एक साधारण जन के अ-रोमांटिक जीवन सघर्ष मे सटते हुए भी, उसे तात्कालिक अर्थ-सन्दर्भो मे व्यक्त न कर प्रकाश और अधकार की शाश्वत लडाई को उदात्त रूपकवाली भाषा मे व्यक्त करता है।

उसके जीवन-सघर्ष का स्वर भी जुझारू या लडाकू नही है, बल्कि बहुत कुछ अपने को उद्‌बोधन देने-जैसा है। उसमे सकल्प का ओज है, वह दहकती हुई आग नही जो अन्याय और असमानता को जलाकर राख कर दे। इसीलिए उसके क्रान्ति के आह्वान मे भी एक शान्त, गम्भीर मत्रणा का पुट है, व्यवस्था और तन्त्र की ईंट-से ईंट बजा देने वाली आक्रोशी ललकार नही। उसके जीवन सघर्ष की आँच बाहर से अधिक भीतर को प्रकाशित करती है। हृदय म घुटते हुए अहसास उसे थोडी देर के लिए निराश चाहे भले कर दें, हताश नही कर सकते। उसके पास एक गुण है—करुणा, जिसमे उसकी अपनी और दूसरो की भी कुण्ठा और निराशा धुल जाती है और उसे दारुण अकेलेपन की उस यातना से बचा लेती है जो आज के आधुनिक मनुष्य की नियति बनती जा रही है। उसे इस करुणा मे एक दृष्टि मिलती है, दूसरो के भीतर झाँक सकने की, और साथ ही एक सामर्थ्य, तम से लडते रहने, उजाले की विजय की प्रतीक्षा करते रहने की।

ऐसा क्या है इस आदमी म जो हम आकृष्ट करता है? शायद उसकी सहजता और भीतरी दृढता। इस सहजता और भीतरी दृढता के पीछे कोई किताबी दर्शन नही है, बल्कि वे उस धरती की ही उपज है जिसस अपने अस्तित्व के गहन रागात्मक स्तरो पर यह आदमी अब भी सम्पृक्त है। यह आदमी अब भी एक समर्पित व्यक्ति है—एक गहरे अर्थ मे अब भी आस्थाशील है। इसके पास आस्था की, अनुराग की और मानव करुणा की विनयशीलता है—'पथ का वह रजकण हूँ जिम पर छाप पगो की /यहाँ वहाँ है, मूक कहानी सहज डगो की / ' उसके कडवे-मीठे अनुभवो ने उसे सत्यदर्शी की-सी ऋजुता और बेलौसपन दिया है—'जीवन है दुनिया का सपना, / जब तक आँखो म है तब तक ज्योति बना है / अलग हुआ तो आँसू है या तिमिर घना है/ बने ठीकरा तो भी मिट्टी को है तपना।' उसकी रचनाशीलता ऐसी है, जैसे चुपचाप, रातोरात धूल मे कोई फूल उग आये। उसके प्रेम के क्षणो म तन का नही, मन का विनिमय होता है, उनम चचल उफान या घोष नही, बल्कि एक ऐसा गहन मौन राग है जिसकी धारा पृथ्वी और सौर मण्डलो तक को आप्लावित करती हुई प्राणा म चुपचाप बहती है।

त्रिलोचन इसी औसत भारतीय आदमी के चितेरे हैं। वे मानव अनुभूतियो की विशिष्टता के नही, मानव अनुभूतियो की मार्मिकता के कवि हैं। वे अनुभूति की जटिलता को नही, उसकी सम्पन्नता को पकडते और अपनी कला म साधते है। वे मानव मर्म के किसी नये स्तर का उद्‌घाटन नही करते, वरन् जीवन जगत् की आपाधापी मे जो सहज मानव-सत्य आँख की ओट हो गये हैं, उन्हे एक नयी और विश्वसनीय पहचान के साथ हमारे सामने लाते है। उनकी काव्य-अनुभूतियाँ सरल है (सपाट नही), जैस आकाश, जैस 'नीद की इच्छाएँ' (शमशेर)। सरल और सबकी। थोडे को बढाकर और बडे को घटाकर रखने वाली वक्रता, कवि की दृष्टि मे महज 'नवीन ऐयारी है, छूछा अभिनय-कौशल।

त्रिलोचन की कला सेल्फ काशस कला नही है। उसम सशय अथवा द्विविधा की दरार नही पडी है। वह जिस वस्तु को उठाती है मुजस्सिम उठती है। त्रिलोचन का

काव्य स्वर चेतना के अन्तर्विरोधों से कपकपाता हुआ निश्चय और अनिश्चय के बीच झूलता डगमग स्वर नहीं है। रचनात्मक तनाव में इस काव्य-स्वर के पीछे कार्यरत साँस बहुत दूर तक खिंची रह सकती है, उसके बीच में ही टूट कर खण्डित हो जाने का अंदेशा नहीं रहता। यह एक साथ कवि की स्नायुविक ऊर्जा और उसके काव्य संयम दोनों को ही उजागर करता है। कवि का अपने ऊपर अद्भुत नियंत्रण है, उसकी रचनात्मक ऊर्जा अभिव्यक्ति के चौखटे को तोड़कर मुक्त नहीं बहने पाती। इसीलिए त्रिलोचन को पढ़ते समय एक कसाव का अनुभव होता है। कहीं कहीं यह कसाव बहुत अखरता भी है। त्रिलोचन का क्लासिक की हद तक छूने वाला काव्य संयम अक्सर हमारा ध्यान उनकी सप्रेष्य अनुभूति से हटा कर उनके शिल्प की तराश और चुस्ती पर ज्यादा केन्द्रित कर देता है। हम उनकी कविता के रूप बन्ध की चातुरी पर मुग्ध होने लगते हैं। ऐसा शायद अनुभूति के ताप में कमी रह जाने—या अनुभूति को कम ताप वाले स्तर से उठाने—के कारण होता है। अनुभूति त्रिलोचन के यहाँ वैसे भी 'पिच' पर नहीं होती —यह उनकी कविता के क्लासिक स्वभाव के विपरीत पड़ता। त्रिलोचन अनुभूति का पका हुआ रूप रखते हैं, शान्त और ओजपूर्ण, जिसकी सह अनुभूति क्षुब्ध सवेगों के घात-प्रतिघात के स्तर पर नहीं, विवेकयुक्त अन्तर्दृष्टि के स्तर पर की जा सकती है। त्रिलोचन की कविता इसीलिए एक सहृदय एवं परिपक्व मानसिकता की माँग करती है। इस कविता को भागते हुए तीव्र अहसासों के क्षण में पकड़ पाना मुश्किल, बल्कि दुस्साध्य है। इसे पकड़ने के लिए थोड़ा इत्मीनान वाला भाव लाना होगा, जिसमें आप इसके अन्तरंग सौष्ठव का, उसकी बनावट की एक-एक सजीव पत्ती का आनन्द ले सकें।

इस कविता की भाषा के पीछे जो रक्त बजता है, उसे सुनने के लिए आपको उसकी धमनी पर कुछ देर तक हाथ रखना होगा। यह भाषा तनाव-जर्जर, तनिक से स्पर्श से बिखर पड़ने वाली भाषा नहीं है। यह भाषा ठोस मज्जा और रुधिर से बनी भाषा है। यह भाषा अपनी जड़ों से कटी हुई, हवा से रस चूसने वाली दुस्साहसी भाषा नहीं है, इसके निर्माण में एक पूरी परम्परा बीज रूप में मौजूद है। यह भाषा तटों के बीच से ही अपना मार्ग खोजती है। इस भाषा के शब्दों में अर्थ सिमटा कसा केन्द्रित-सा रहता है और लक्ष्य पर सीधी चोट करता है (या फिर लक्ष्य चूक जाने पर ऐसा नहीं कर पाता)। इस भाषा में अर्थ शब्दों के चारों ओर फूट पसर कर सदिग्ध (सम्भावना-पूर्ण?) व्यंजना का घेरा नहीं बनाता। इस भाषा में अस्पष्ट कुछ नहीं है, सब कुछ क्रिस्टल के समान है—अनेक पहलुओं वाला, पर साफ। अर्थ और अर्थ के बीच किसी दोहरे अर्थ का अन्तराल इस भाषा के शब्दों में नहीं है। यह कवि की अनुभूतियों की तरह ही एक सरल भाषा है (सपाट नहीं)। दूसरे शब्दों में, यह आम काव्यनायक उस औसत भारतीय आदमी के समान ही, और उसके मर्म की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त, एक औसत भाषा है।

हिन्दी में शायद त्रिलोचन ही एकमात्र ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपने को लोक-जीवन से पूरी तरह जोड़ लिया है, सौन्दर्य की एक अन्तर्गरिमा के साथ। सृजन के

आह्लादकारी अनुभव के साथ, रचना की एक बराबर की साझेदारी के साथ। त्रिलोचन के लिए रचना किसी तनाव से मुक्त होने में नहीं, बल्कि जीवन का कुछ खोजने, पाने और फिर उसे बाँट देने में होती है। इसीलिए उनकी कविता की रचना प्रक्रिया का कोई रहस्यमय पक्ष नहीं है। कला त्रिलोचन के लिए एक ऐसा आईना है जिसमें वे अपनी और दूसरों की अनुभूतियों के मर्म को सजीव बिरक्ते हुए रूपों में दिखा सकें। और इसमें उनकी कलाकारिता बस इतनी है कि वे उस आईने पर जरा भी धूल-धब्बा न पड़ा रहने दें, उसे भरसक साफ पारदर्शी रखें।

अन्त में एक सवाल त्रिलोचन की कविता को लेकर किया जा सकता है क्या उनकी कविता का औसत भारतीय आदमी समसामयिक वर्तमान की विसंगतियों के भीतर से उभर रहे नये आदमी में अपने को ढाल सकता है? क्या वह अपनी आस्था और समर्पण के आधारों को तोड़-फोड़कर उस व्यापक मूल्य-अराजकता का अंग बन सकता है, जो आज की निपट नंगी और चीखती हुई सच्चाई है? या फिर वह उस इतिहास-बोध का जुज बनकर ही रह जायगा जो बदलती हुई सामाजिक शक्तियों में तेजी से धुँधला पड़ता जा रहा है? क्या त्रिलोचन की कविता अपना कायाकल्प करने का जोखिम उठाने को तैयार है? त्रिलोचन का काव्य विवेक अत्यन्त पुष्ट है, क्या व समय के विवेक को अपनी रचनाशीलता में जगह देंगे?

इन प्रश्नों के उत्तर की सरल सुविधा फिलहाल त्रिलोचन की कविताएँ हमें नहीं देती। अत इन उत्तरों को पाने की आशा सिर्फ कवि से ही की जा सकती है, जो इन कविताओं का रचनाकार है। शायद कभी वह दे। जब तक औसत भारतीय आदमी के आज के नये बदलते हुए आदमी में रूपान्तरण की प्रक्रिया असमंजस और द्विविधा के स्तरों पर भूलती-भटकती रहेगी तब तक हम कवि के उत्तरों की प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।

[१९७०]

एक खानाबदोश यात्रा

आधुनिक कवि में एक चीज पाई जाती है निस्संगता—अनुभूति के क्षणों में बहते हुए भी उससे जुदा रह सकने की क्षमता, भोगते हुए भी दृष्टा बने रह सकने की स्थिति। इस निस्संगता का ही परिणाम है कि वह जीवनानुभूतियों को अपने भाव-यन्त्र पर टूट पड़ते, उनके वेग के नीचे अपने को पिसते (और चिंचियाते) अनुभव कर सकता है। इस प्रक्रिया मे इतना तो निश्चित है कि एक स्तर पर अनुभूति की अपर्याप्तता कवि के सामने भी उद्भासित हो जाती है, हालांकि चेतन रूप से वह इस अपर्याप्तता की स्थिति को लेकर अपने ऊपर सिर्फ झुंझलाहट ही पैदा कर पाता है, अपने भीतर किसी खामी के दर्शन करता है, और प्रकारान्तर से अनुभूति से अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सगति न बिठा सकने पर भी अनुभूति को ही कसकर पकड़ लेना चाहता है। वह अनुभूति से चल पुन अनुभूति की ओर वापस लौटता है। अन्तराल में सशय और सशय से उपजी नई राह खोज लेने की छटपटाहट होती है, और इन क्षणों म कवि की सृजन प्रक्रिया मे अनुभूति से चलने और अनुभूति को वापस जाने की दो 'गतियों' के अलावा एक तीसरी 'गति' या आयाम भी पैदा हो जाता है। पर वह बहुत कुछ प्रातिभज्ञान पर आधारित होता है, उस पर सचेतन हाथो की पकड़ नहीं होती, इसलिए वह तीसरी गति या आयाम पीछे पड़ जाता है।

प्रभाकर माचवे अपनी इधर की कविताओं मे (जो सकलित रूप में 'मेपल' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है) उसी सशय के अन्तराल में खड़े दिखाई देते हैं। उनके दोनो ओर अनुभूति-सदर्भों की निजी व्यथाएं हैं—एक ओर उस विगत की, जिसकी छाया से दूर चलकर वे आए हैं और जो सुदूर प्रकाश की छविमयता-सा उनमे अब भी रह-रह कर मोह जगा जाता है, और दूसरी ओर उस आगत की, जो उनके वर्तमान म निहित विगत-मूल्यो का ही 'प्रोजेक्शन' मात्र बन पाने की विवशता से जन्मती है। माचवे न भूतकाल के कवि हैं न भविष्य के, वे समसामयिकता के कवि हैं, पर उनकी सम-सामयिकता मिथ्या भूत और अमूर्त भविष्य के भावनात्मक अवशेषो से बनी है। वे अतीत और भविष्य को एक साथ जीते है, और यह जीना एक भावनात्मक नैरन्तर्य मे होता है, पर चूंकि इस जीने का कोई वैचारिक नैरन्तर्य वे नहीं ढूंढ पाते—नहीं ढूंढ सकते—इसलिए वे अपने को आत्म-निर्वासित अनुभव करते हैं और ससार को 'एक ग्राड होटल, पुल या कारवां सराय' जहां प्रस्थान बिन्दु बहुत पीछे छूट चुका होता है और मंजिल का कहीं पता नहीं।

अपने आप से निर्वासन की यह स्थिति अक्सर कवि मे रोमाटिक प्रतिक्रियाओ के रूप मे प्रतिफलित होती है। प्रभाकर माचवे की मूल भावभूमि भी रोमाटिक ही है। आज के जटिल जीवन बोध से उनकी चेतना अप्रभावित नही है, पर उसके प्रति अन्त तक जूझ जाने वाली रचनात्मक संपृक्ति भी उनमे नही है। अभिव्यक्ति मे वे चाहे आधुनिक युगबोध के कितने ही स्थूल-सूक्ष्म उपकरण और उपजीव्य लाते हो (और सामान्य पाठक की निगाह मे 'बौद्धिक' होने का भ्रम पैदा करते हो), उनके भीतर का प्रच्छन्न रोमाटिक उन्हे आज के समय की अनिवार्य जटिलता मे डूबने नही देता। यह अकारण नही है कि माचवे की अधिसख्य कविताएँ 'मैने देखा' से शुरू होती हैं या 'मैने देखा' के कथ्य के चारो ओर घूमती हैं। अपने आत्मनिर्वासन मे उनका कवि एक खानाबदोश की तरह सब कुछ सिर्फ 'देखते' या दूसरो को 'दिखाते' हुए 'बाजार से गुजरा हूँ खरीदार नही हूँ' की-सी तटस्थता बरतता है। वह आकर्षित सबके प्रति होता है, समर्पित किसी एक के प्रति भी नही।

किसी एक के प्रति समर्पित न होने को ही शायद माचवे अपना 'नान-कन्फर्मिज्म' बताते हैं। यह नान-कन्फर्मिज्म उनके काव्य व्यक्तित्व की शक्ति भी है और कमजोरी भी। पर यहाँ पहले इतना स्पष्ट कर देना होगा कि माचवे का नान कन्फर्मिज्म कोई वैचारिक मान्यता नही है, अर्थात काव्यगत आचरण मे वे उसे किसी प्रत्यय या विचार-परिपाटी के रूप मे मानकर नही चलते, बल्कि वे उसे एक स्वभावगत आग्रह के रूप मे स्वीकारते हैं। किसी निश्चित विकल्प को रखकर किसी जीवन-पद्धति अथवा दर्शन, सिद्धान्त, मत आदि का खण्डन करने के पीछे जो मानसिक कट्टरता या हठधर्मिता प्राय पाई जाती है उसका माचवे मे अभाव है। नान-कन्फर्मिज्म का अर्थ उनके लिए एक प्रकार की काव्य-उन्मुक्तता भर है, जो उनकी निगाह को हमेशा खुली रखता है और उनके काव्य को मानव अनुभूतियो की विविधता एव गर्माई बटोरने तथा शिल्प प्रयोगो की रंगारंग झाँकी प्रस्तुत करने के लिए सदैव तत्पर। माचवे का नान-कन्फर्मिज्म उनके कवि का एक ऐसा फ्रॉक सूट है जिसमे वह दर-दर रमते हुए खानाबदोश की तरह जीवनानुभव और काव्य-शिल्प के तरह तरह के रग-बिरगे कपडे अपने तन पर धारण करता जाता है। उससे उन्हें इस हद तक छूट मिल जाती है कि किसी मानवीय अनुभूति-सदर्भ की रचनात्मक जटिलताओ एव सम्भावनाओं मे उलझने और उसे भोगने के बजाय वे उसकी पूरी 'टोपोग्राफी' आपके सामने पेश कर सन्तुष्ट हो लें। जीवनानुभूति के सर्जनात्मक प्रेषण की अपेक्षाकृत दिक्कत-तलब प्रक्रियाओ मे घँसे बिना पाठक को उसके वर्णन से चमत्कृत कर दें। लेकिन यह एक ऐसी छूट है जिसका इस्तेमाल माचवे खूबी और सधे हाथो से करते हैं।

यहाँ इस प्रसग मे प्रभाकर माचवे की उन कविताओ की चर्चा की जा सकती है जिन्हें मोटे तौर पर 'अखबारी कविता' कहना उपयुक्त होगा। माचवे उन बहुत थोडे-से कवियों मे हैं जिन्होने सफल कविताओ के साथ-साथ ढेरो ऐसी कविताएँ लिखी हैं जिन्हे चालू जबान मे 'कूडा' कहा जाता है। मजे की बात यह है कि ऐसी ही 'कूडा' कविताओ के साक्ष्य पर माचवे को 'बौद्धिक' कवि मान लिया जाता है, हाँ तब यह तय कर पाना जरूर

मुश्किल हो जाता है कि आलोचक समीक्षक 'बौद्धिक' होने का अर्थ 'उपहासास्पद' तो नहीं लगा रहे हैं। अगम्भीर को गम्भीर रूप में और गम्भीर रूप को अगम्भीर रूप में लेने की परम्परा हिन्दी कविता के आलोचकों के लिए नयी नहीं है। इस परम्परा को अपने लिए चालू रखने में स्वयं माचवे भी आलोचकों से कम सहायक सिद्ध नहीं होते। उनका काव्य के बारे में किसी निश्चित एवं समान रुचि का पता न देना एक उदाहरण हो सकता है, जिसे आलोचक अपने पक्ष में आसानी से मोड सकता है। कवि का इस हद तक नान-कन्फर्मिस्ट होना उसके लिए अपनी शक्ति हो तो हो, आलोचक के लिए वह गैर-जिम्मेदारी और ढुलमुलपन भी तो हो सकता है। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि माचवे के काव्य पर गैर जिम्मेदारी अथवा ढुलमुलपन के परिप्रेक्ष्य से विचार नहीं किया जा सकता, मेरा कहना सिर्फ यह है कि जिन अखबारी कविताओं को इस विचार का आधार बनाया जाता है वह माचवे के व्यक्तित्व की केवल तटवर्ती धाराएँ हैं, उनकी मूल अन्तर्वर्ती धारा नहीं, और किसी भी जागरूक पाठक के सामने यह अन्तर बहुत स्पष्ट होना चाहिए।

नान-कन्फर्मिज्म को आज के युगबोध की एक स्वाभाविक परिणति के रूप में भी देखा जा सकता है। तेजी से बदलते हुए काल-सदर्भों में प्रत्येक सिद्धांत, मत और जीवन-दर्शन अपना स्थायित्व खो चुका है। कवि की निगाह से उसकी स्थिति नाटक के उन पात्रों की सी हो गई है जो स्टेज पर सीन बदल जाने के बाद भी अपनी जगह पर खड़े हुए हों। प्रजातांत्रिक चेतना के विकास के साथ व्यक्ति स्वातंत्र्य का एक ऐसा पक्ष आया है जिसमें किसी ऊपरी अनुशासन को मानने का मतलब अपनी बौद्धिक ईमानदारी की हत्या कर देना हो गया है। ये सब चीजें अब स्वीकृत सी मान ली जाकर आज के कृती-धर्म का आवश्यक जुज़ बन चुकी हैं। परन्तु व्यक्ति-स्वातंत्र्य के इस स्वीकृत अधिकार-विशेष का प्रयोग कृतिकार अभी तक स्थापित चीज़ों को अस्वीकार करने में जितना करता रहा है उतना किसी चीज को स्वीकार करने में नहीं। इस बीच उसकी सम्पृक्ति सचमुच ही यदि किसी से रही है तो वह गढनरहित और किसी निश्चित बनावट के साँचे से पूर्व की जीवनानुभूतियों से ही। किन्तु जीवनानुभूति की समूची व्याप्ति और तीव्रता भी स्थापित मूल्यों को अस्वीकार कर देने के बाद से उत्पन्न हुए वैचारिक वैकुअम को भर सकने में असमर्थ रही है। इस स्तर पर कवि का 'आत्म-निर्वासन' और 'वैचारिक वैकुअम' एक ही सिक्के के दो पहलू बन जाते हैं। इस वैचारिक वैकुअम में 'भारहीन तिरता' हुआ कवि जीवनानुभूतियों के कुहासे में चक्कर लगाता रहता है। 'घर' को छोड़कर भी 'घर' की स्मृति से मुक्त नहीं हो पाता, 'अपने' को निर्वासित करके भी उसकी खोज का लक्ष्य 'अपने' को ही पाना होता है, उसका सफर भी अपने से बाहर अपनी ही ओर जाना है।

प्रभाकर माचवे का नान कन्फर्मिज्म अन्तत उन्हें इस वैचारिक वैकुअम पर ही लाकर छोड़ता है। भाव-चेतना के स्तर पर जब माचवे इस स्थिति को भोगते हैं तो रोमांटिक हो उठते हैं और जब कभी बौद्धिक स्तर पर उस स्थिति से टकराते हैं तब उनकी कविताएँ जटिल अनुभव-स्थितियों का समापन सरलीकृत फार्मूले के रूप में करने लगती हैं। इन फार्मूलों के प्रति यदि कवि सचमुच ही आस्था रख सकता तो बात उतनी

बुरी न होती, पर कठिनाई यही है कि स्वयं कवि भी उन्हें अपने अनुभूति के एकान्त में नाकाफी करार दे चुका होता है। वह भरसक यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करता है कि समस्या चाहे कितनी भी जटिल और उलझी हुई हो उसका समाधान उसके पास है—और कवि के स्वर में व्यक्त पीड़ा भी इसी बात की रहती है कि उसके समाधान को व्यापक समर्थन नहीं मिल रहा है—पर हम जानते हैं कि कवि यथार्थ अनुभूति के दबावों को महसूस करते हुए भी उनसे केवल बच निकलने का शार्टकट ढूँढ रहा है। असल में होता यह है कि उस वैचारिक वैकुअम के कारण कवि में संस्कारबद्ध मूल्य उसकी रचना-प्रक्रिया में घुस आते हैं और उसकी काव्याभिव्यक्ति का नियमन करने लगते हैं। उदाहरण रूप में माचवे की वे कविताएँ ली जा सकती हैं जो विदेश संदर्भ या सामाजिक विसंगतियों पर लिखी गई हैं। इन कविताओं को पढ़ने से लगता है कि इनमें व्यक्त काव्यानुभव के साथ कवि की पूरी रचनात्मक सम्पृक्ति नहीं है उनमें कवि एक प्रकार का मानसिक अलगाव बनाए रखता है। यह मानसिक अलगाव कवि के एक खास दृष्टि-फ्रेम के कारण कविता में झलकता है जिसके पीछे से कवि काव्यानुभव को देखता चलता है। इस मानसिक दूरी के कारण काव्यानुभव और स्वयं कवि के रचना विधान के बीच एक द्वन्द्वात्मक तनाव की स्थिति हो जाती है जो अनुभव-परिवेश की तात्कालिकता और समसामयिकता का तो जरूर आभास देती है पर चूँकि कवि उस द्वन्द्वात्मक तनाव को अधिक देर तक झेल नहीं पाता—और इस तरह किसी नये सर्जनात्मक अर्थ-आयाम की सम्भावना विकसित नहीं कर पाता—इसलिए कविता के अन्त तक पहुँचते पहुँचते वह तनाव एक उदास भाव-भंगिमा में अतिक्रान्त हो जाता है। वास्तव में अनुभूति के भीतर न डूब सकने की सतर्कता और अनुभूति से नया न रच सकने की विवशता के बीच परिवेशजन्य तनावों से मुक्ति का बस एक ही उपाय कवि के पास बच रहता है—काव्यानुभव पर एक पूर्व अर्जित निर्णय थोप देना। इसीलिए माचवे की कविताएँ किसी सूक्ति, आदर्श या ज्ञान-वाणी से समाप्त होती हैं। कवि की असफलता यहाँ किसी निर्णय को स्वीकारने में नहीं, बल्कि इसमें है कि उसकी अनुभूति उस निर्णय का अनुसरण करने लगती है और अपने को तदनुरूप ढालने लगती है। अनुभूति का तत्त्व रचना का नियामक तत्त्व न रहकर उस पूर्व अर्जित निर्णय का अनुवर्ती तत्त्व हो जाता है और ऐसा लगने लगता है मानो कवि एक बार के जिये हुए सत्य को दुबारा जीना चाहता है।

यह पूर्व-अर्जित निर्णय भावनात्मक और बौद्धिक दोनों ही रूपों में व्यक्त होता है। यदि विदेश जीवन के कुछ अनुभव कवि में उदासी, नोस्टैल्जिया, विरक्ति या कटुता का भाव भरते हैं तो यह उस पर भावात्मक निर्णय हुआ। यदि कवि को विदेश जीवन की कृत्रिमता, स्वार्थ लिप्सा, हृदयहीनता आदि के संदर्भ में बार-बार विवेकानन्द वाणी, रवीन्द्र वचनामृत या तुकाराम के अभंग (और इसी तरह भारतीय चिन्तन के संदर्भ में प्रेम, करुणा, निस्वार्थता, साधुता आदि के सनातन मूल्य) याद आने लगें तो यह बौद्धिक निर्णय हुआ। दोनों ही स्थितियों में माचवे का यथार्थ-अनुभव एक आग्रहशील आदर्शबोध में परिणत हो जाता है। फर्क सिर्फ इतना है कि जिस आदर्शबोध से वे अपने यथार्थ अनु-

भव को जोडने की कोशिश करते हैं वह उनकी ईमानदार भाव-सवेदना के परिप्रेक्ष्य मे भी प्रामाणिक नही ठहरता। वस्तुत यह अन्तर्विरोध ही मूल्यचेतना के स्तर पर उन्हे प्रतिगामी होने से बचा लेता है। उनकी उदासी एक समाप्त हो गयी दुनिया के लिए न होकर उस दुनिया के लिए है जिस पर कोई भी छाप छोडने मे वे असमर्थ हैं। इस असमर्थता के बोध से ही अपने कमजोर क्षणो मे वे अतीत का स्मरण करते हैं और सोचते हैं कि आदर्श और यथार्थ के बीच की खाई को विश्व इतिहास एव मानव सस्कृति के पुराख्यानो से पाटा जा सकता है। पर स्वप्नभग के क्षण मे कवि समसामयिक वर्तमान से अनिवार्यत जुडी अपनी काव्य नियति को पहचानता है और इसमे भी वह उदास हो जाता है। नये मूल्यो की खोज की सक्षुब्ध पृष्ठभूमि को वह भोगता है, पर उस खोज की प्रक्रिया म भीतर घुस कर जोखिम उठाने की स्फूर्ति उसमे नही होती।

अपने काव्य व्यक्तित्व को इस भीतरी अन्तर्विरोधात्मक बनावट के बावजूद यदि माचवे भावुकता के खतरे से उबर पाते है तो इसका कारण उनका व्यग्य-सस्कार ही है। उनका खानाबदोशी फक्कडपन जिस सहजता और भोलेपन के साथ आधुनिक युग-जीवन की जटिलता मे प्रवेश करता है वह अपने आप में व्यग्य की सृष्टि कर देता है, हालाकि इस प्रकार के व्यग्य मे कवि दूसरो की बनिस्बत अपने को ही ज्यादा उघाडता है—अपनी रुचि, अपने आदर्श और जीवन-मान। व्यग्य की इस धारा को उनकी कविताओ से निकाल दीजिए और माचवे सिर्फ एक उदास रोमाटिक या ससार के प्रपच से परेशान एक सूफी बच रहते हैं—एक ऐसा खानाबदोश जिसकी रग-बिरगी पोशाक छीनकर उसे किसी महानगर की अत्याधुनिक सडको पर उदास मन के रेशे उधेडने या इतिहास के शानदार झरोखो से स्मृति के तिनके बटोरने के लिए छोड दिया गया हो (ऐसा कवि प्रभाकर माचवे ने अपने उपन्यास 'जो' मे किया भी है)। इसीलिए माचवे 'घर' का दरवाजा बन्द पाकर—यथार्थ के कठिन शिकजो से पलायन की कोई राह न देख—जीवानानुभूतियो की अपने भाव-यन्त्र पर मार खाकर 'मैंने जिया नही, मुझे जिया गया'-मार्का आत्मदया से पीडित होने के बजाय पाठको को दुनिया-भर के तमाम मशहूर शहरो के किस्से और लतीफे सुनाने लगते हैं। किस्से सुनाने की इस कला मे कवि को अद्भुत महारत हासिल है। शब्दो, तुको तथा नये पुराने छन्दो के नाना प्रकार के पैतरे दिखाकर पाठक को वे अपने काव्य के उस गुण से आनन्दित करते हैं जिसे शमशेर बहादुर सिंह ने उनकी 'वर्चुआसिटी' कहा है ('कृति'-कविता विशेषाक, १९६०)। इस स्तर पर माचवे की अभिव्यक्ति इतनी सहज और आयासहीन होती है कि वह स्वय उनके अपने व्यक्तित्व से पाठक को सुनाकर खीची गयी एक रोचक वार्ता बन जाती है। उस वार्ता से पाठक चाहे तो सारे जहान की बहुत-सी जानकारी बटोर सकता है, समाज की नयी नयी समस्या का परिचय पा सकता है, मानव मन की गुप्त खन्दको-खाइयो के सुरागो का पता चला सकता है, और काव्य से उसकी माँग बहुत गहरी न हो तो विविधता का आह्लादजन्य सतोष भी प्राप्त कर सकता है।

माचवे की कविताओ मे सकेत को अक्सर कम स्थान मिल पाता है, वे सब-कुछ

खुद ही खोल-उघार कर रख देने में विश्वास करते हैं। ऋजुता उनके काव्य व्यक्तित्व का बुनियादी गुण है, खास तौर पर उन कविताओं में जिनमें अनुभूति का दबाव इतना अधिक नहीं है कि वह सिर्फ बिम्बों या प्रतीकों में व्यक्त होने का रूप अपनाए, अर्थात् अपना रचनात्मक धरातल ढूंढने का काम इस वर्णनप्रिय मानाबदोश कवि के हाथों में न सौंपकर खुद ही करे। इस ऋजुता के ही अनुरूप माचवे का व्यंग्य भी ऋजु होता है, उसमें कोई वक्रता नहीं होती। आधुनिक युग जीवन की विसंगतियों को जब वे अनुभूति के स्तर पर झेलते हैं तो अक्सर उनकी प्रतिक्रिया या तो सात्विक रोष की होती है या फिर विरक्ति की, जो अन्ततः एक भावुक प्रतिक्रिया है। इसलिए उनका व्यंग्य उस विसंगति के बाह्य रूप का ही स्पर्श करता है। भीतर से कचोटने वाला व्यंग्य प्रभाकर माचवे की केवल उन्हीं कविताओं में मिलता है जिनमें उस भावुक प्रतिक्रिया से वे अपने को बचा पाए हैं। उदाहरण के रूप में 'निराला' सम्बन्धी उनकी कुछ कविताएँ आधुनिक जीवन के हृदयहीन मान मूल्यों के संदर्भ में एक निष्ठावान व्यक्ति की 'मिसफिट' स्थिति के व्यंग्य को एवं गहरे दर्द की अनुभूति के साथ जोड़ कर उभारती है। व्यंग्य विपर्यय के गहरे बोध से पूर्ण कुछ ऐसी ही कविताएँ उनके काव्य संग्रह 'मेपल' में भी हैं जो कवि के एक नये विकास क्रम को सूचित करती हैं।

प्रभाकर माचवे के अन्तर्वर्ती काव्य व्यक्तित्व में अभी तक एक असमान बनावट और अनमेलता पाई जाती रही है। गम्भीरता और अगम्भीरता की एकमेल खिचड़ी, सम्पृक्ति में एकाएक विरक्त और उन्मन हो उठने की प्रवृत्ति, और अपने भोगे हुए को रचनात्मक स्तर पर अधिक देर झेल न पाने—अपने 'फैलाव' को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित न कर पाने—की असमर्थता की प्रक्रिया में उपजी उनकी कविताएँ एक मिश्रित प्रभाव छोड़ती रही हैं। ऐसे में उनकी रचना प्रक्रिया को स्थापबद्ध कर सकना मुश्किल हुआ है। उनकी सर्जनात्मकता अधिकतर ग्रहणशीलता के स्तर पर ही काम करती रही है। नये-नये अनुभव संचित करने और दुनिया को प्रश्नवती आँखों से देखने में ही, न कि अनुभूति केन्द्रित रचना दृष्टि से ऊपर उठकर अपनी सर्जनात्मकता को अपेक्षाकृत अधिक ठोस मूलाधारों पर प्रतिष्ठित करने में—वे अपनी प्रतिभा का प्रयोग करते हैं। इसीलिए तात्विक दृष्टि से माचवे का काव्य तात्कालिकता की आँच से भरपूर होते हुए भी मैच्योर काव्य नहीं रहा है। उनके काव्य में व्यक्त उनकी दृष्टि हद से-हद एक सार्वभौमिक दृष्टि ही रही है, अद्वितीय दृष्टि नहीं जो आधुनिकता की प्रथम शर्त है। अब यदि उनकी उस सार्वभौमिक दृष्टि को भी समर्थन और अनुमोदन नहीं मिल सका तो इसका कारण उनके व्यक्तित्व का वह संशय ही है जिसकी ओर इस लेख के प्रारम्भ में इशारा किया गया। उनकी दिक्कत—एक तरह से छोटी-मोटी ट्रेजेडी भी—यह रही है कि एक ओर तो काव्य की सार्वभौमिक सचाई से वे अपना दामन नहीं छुड़ा पाते व दूसरी ओर अद्वितीयता को पा लेने की बेचैनी भी उनमें है। व 'समग्र सत्य' पाने की आकांक्षा रखते हैं पर यह भूल जाते हैं कि आधुनिक कवि की खोज समग्र सत्य न होकर अनुभूति की समग्रता होती है जिसमें से वह अपना एक विशिष्ट सत्य रचता है।

माचवे की इधर प्रकाशित कुछ कविताओं में उनकी वह बेचैनी साफ झलकती है। अभी तक जैसे व शब्दों की 'बाजीगरी' करते रहे थे, अनुभूति के ब्यौरेवार 'वर्णन' की चमत्कारिता म ही उलझे रहे थे और यह समझते रहे थे कि भाषा को तोड़ मरोड़कर अपनी सहज रचनात्मकता में ही व किसी नयी उपलब्धि को पा लेंगे। जिस वैचारिक वैकुअम के अस्तित्व को अनुभूति के स्तर पर जानकर भी वे उसके तनाव के साथ सीधे मुठभेड़ से बचन रहे थे उसे अब स्पष्ट चेतना के स्तर पर भी अनुभव करने लगे हैं। पहले की फाकामस्ती अज एक गहरी करुणा म बदल गयी है। कवि मे स्वय अपनी रचनात्मकता के प्रति एक प्रश्न भाव—उसकी सार्थकता का कोई एक मूलाधार खोजने की घनीभूत जिज्ञासा—उदित हुई है। पहल अपनी शक्ति को ठौर-कुठौर लुटाने में आनन्द आता था, अब उसे किसी केन्द्र की ओर नियोजित करने की पीड़ा है ('किस विराट के घर म यह भाड़ू फेर रहा हूँ')। शब्दों की पूँजी को दाँव पर लगाने वाले कवि को एक तरह का आत्मसाक्षात्कार सा हो रहा है—वह नये सिरे से अपने अस्तित्व के सदर्भ में 'निज' को व्यक्त करने के साधन रूप शब्दों के सही रूप की तलाश करने को आतुर है—'मेरे सच्चे शब्द किसी शमी वृक्ष की खोखल म छिपे पड़े हैं क्या ?' (ज्ञानपीठ पत्रिका, नवम्बर, १९६५) कवि के इस नय रूप म ही उसके आगामी विकास की सम्भावनाएँ कहीं छिपी हुई हैं और उसक सकेत भी छिटपुट रूप स प्रकट होने लगे हैं।

[१९६७]

यथार्थ से आधी मुठभेड़

ओ रे, लाल—गोदी के
क्या तू ही है पिता—मानव का ?

गली का परिवेश (क ग ग—२)

श्रीराम वर्मा की कविताएँ पढ़ते हुए वर्ड्सवर्थ की एक कविता का शीर्षक रह-रह कर याद आता है—'चाइल्ड इज द फादर आफ मैन'। श्रीराम वर्मा के व्यक्तित्व में उस कविता-शीर्षक का शिशु भी है और वह आदमी भी। दोनों एक-दूसरे में छिपे हुए। अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे पर आश्रित, एक-दूसरे के सन्दर्भ में ही अर्थवान। श्रीराम वर्मा के काव्य-संग्रह 'ग्रीनविच' की पहली कविता का कवि-मन एक आकार लेता हुआ मन है, कोरे कागज-सा ऋजु, धारणशील और श्रुतिधर्मा। जटिल और दुर्वह वर्तमान को अपना छोटा भाई मानने का और उसे जिधर चाहे मोड़ सकने का सरल विश्वास भी उसमें है। पर संसार के विराट चक्रव्यूह को छोटे भाई की नूतन पाठशाला और अपने को उसका अकेला अध्यापक बताने में जो तस्वीर हमारे सामने उभरती है वह हाथ में छोटी-सी छड़ी लिए ऐनक लगाए एक मिनि-मास्टर से क्या कुछ ज्यादा रौबदार है ? इस कविता के बाद अब आइए संग्रह की अन्तिम कविता पर। क्या यह सिर्फ संयोग है कि इस कविता का केन्द्रीय चित्र भी एक पाठशाला है—किसी पाठशाला में टँगे हुए श्याम-पट का जिस पर प्रश्नों के हल निकालना अब कवि को व्यर्थ लगने लगा है ? अध्यापक की प्रत्यक्ष उपस्थिति इस कविता में नहीं है। हल निकालने वाला भी अब 'मैं' न रहकर 'हम' हो गया है—कवि आत्ममुग्ध भावबोध की कक्षा से चलकर वयस्क आत्मबोध की कक्षा में पहुँच गया है। उसने ज्ञान' का फल चख लिया है। उसके स्वर में भले बुरे की पहचान वाली दृष्टि है, और एक काट करनेवाला व्यंग्य-विद्रूप भी। पहली कविता का वह छलक छलक पड़नेवाला आत्मविश्वास अब यथार्थ के एक ठण्डे स्वीकार में बदल चुका है।

श्रीराम वर्मा के व्यक्तित्व के ये दो स्तर हैं। लेकिन ये दोनों स्तर न तो उनकी काव्य-यात्रा के आरम्भ के और न ही अन्त के बिन्दु हैं। उनमें जहाँ 'शिशु' का मन बोलता है वहाँ भी आदमी के अनुभव की कड़ी जमीन दूर नहीं, और जहाँ 'आदमी' के अनुभवलोक की सरासर विसंगतियों का तना हुआ जाल-माल है वहाँ भी वह शिशु' अपनी 'भाँ' करने से बाज़ नहीं आता। श्रीराम का कवि-मन इस दोहरी बाट के धागों

से ही बुना हुआ है। यह बुनावट समान नहीं है और वह व्यक्तित्व भी अनुभव की आँच मे पक कर अभी प्रौढ़ नहीं हुआ है, इसे हम आगे देखेंगे। अभी उस शिशुमन की गोद लें।

यह शिशु-मन प्रकृति प्रेमी है—प्रकृति के सहज और शान्त मन स्थिति वाले रगारग रूप उसे भाते हैं। उड़ते बादल, हिरन, आकाश, किरन, ओस और कुहरा, चिड़ियाएँ और गिलहरी आदि देखना और दिखाना उसे अच्छा लगता है। दृश्यों के साथ बह जाना, शब्दों मे उनकी लडी बाँधने जाना—एक आत्मविमुग्ध कौतुक के साथ, एक आत्मसजग विभोरता के साथ, कभी-कभी इतने सघन रूप मे कि इससे कविता की सवेदना ठस-सी लगने लगती है। दृश्य-चित्र स्फटिक की तरह साफ और चमकदार लगते हैं पर कुछ खास झलकाते नहीं। चित्र की रेखाएँ निहायत बारीक, रची हुई कटावदार, पर अर्थ के मामले मे एक जरा से भावुक धक्के के अलावा कोई विशेष हरकत नहीं। ऐसे मे दृश्य दृश्य तक ही रह जाता है। इसकी वजह शायद भाषा का वह छायावादी सस्कार है जिससे श्रीराम वर्मा मुक्त नहीं हो सके हैं। इस भाषा सस्कार के पीछे जो साहित्यिक सौन्दर्यबोध है उसे भी वे पूरी तरह भटक नहीं पाये हैं। पर भाषा की बात आगे, अभी मन।

पावनता, मगल इच्छाएँ और जिज्ञासा इस मन का धर्म है, प्रयोग और खिलवाड उसकी प्रकृति। जीवन के सरल रूपा म प्यार और उस रूप को विकृत करनेवाली स्थितियों के प्रति एक उदासी। जीवन को एक तुतलाहट मे पकडने-बाँधने की चेष्टा और उल्लास। शुरू की लगभग सारी कविताएँ इस बच्चा-मन को समर्पित कविताएँ हैं। स्वाद म पुरानी और आज के मरून भावबोध के सामने खामखवाह को परोसी हुई-सी। पर उनका भोलापन आपको निरस्त्र कर देता है

दिल और जूता

∴ मुझमे दिल था
लोग कहते थे, तुम अभी बच्चे हो।
.. मैंने दिल को मजबूत किया
लोग कहने लगे तुम बिलकुल बच्चे हो।
∴ मैं ने दिल की जगह एक जूता टाँग दिया
लोग चिल्ला उठे, अरे तुम कितने सच्चे हो।

इसम एक विद्रूप भी है, पर वह निकली कहाँ से है ? उस सहज मन से ही न, जो अपने से विपरीत दिशा में जा रही दुनिया के व्यवहार से चकित है।

यही भोलापन प्रेमानुभूति सम्बन्धी कविताओ में भी है। तभी तो देह का गीत गाते समय भी 'मरूपन' की बातें नहीं भूलती। उपसहार शीर्षक कविता की प्रियदर्शना अपार सहानुभूति के स्वरो मे रँभाती हुई नदी की तरह सम्पूर्ण दिशाओ को आप्यायित कर उनके सम्पूर्ण को बेगाह सौंसी म ले आयती है। प्रेम के अनुभव मे ऐन्द्रिक माँसलता या तीव्र सवगात्मक जटिलता नहीं, एक तरल रूमानीपन, एक कैशोर्य स्वप्निलता है। इस प्रेम मे कुछ अधिकारपूर्वक माँगने स ज्यादा प्रेम के आगे स्वय बिछकर एक सुरक्षा पा लेने की कामना है। स्तन, उरोज, छाती, जाँघ, चुम्बन जैसे शब्द जरूर आते हैं, पर वे अपने

साथ भावनाओ की कोई उत्तेजक ऊष्मा, वयस्क सौन्दर्य की कोई मर्द-अनुभूति नही, एक चंचल औत्सुक्य का भाव ही लेकर आते है। एक वर्जित प्रदेश मे उझककर झाँकने की कुछ झिझक कुछ साहसपूर्ण चेष्टा की तरह, पवित्र और मासूम। प्रेम मे भोलेपन का यह अन्दाज कि 'कइयो ने गाली दी/हमे देख/गाय ने भी जुगाली की' देखकर कौन नही कायल हो जायगा! ऐसे मन का प्रेम 'हवा मिठाई' सा हल्का और मीठा है, वह दाहता नही, सिर्फ गिलहरी की तरह कुतरता है।

और इस मन का शुद्ध खिलवाड देखना हो तो 'सुनिए' शीर्षक कविता देख जाइए। शर्त सिर्फ एक है कि इसमे कविता ढूंढने की कोशिश न कीजिए—'वहाँ से हटा लीजिए/अपना वह हाथ/जिसमे कलम है/(और अँगूठा भी।)/देखते नहीं/(परछाईं)/गधे के कान चोकन्ने।' खिलवाड और भी कई जगह हैं, जैसे 'सरदर्द' मे और खिलवाड से मिलता-जुलता प्रयोग भी, जैसे कि 'कोरस', 'दूज का चाँद' और 'नुक्कड पर घूरे ने कहा' में। ये प्रयोग कुछ इसी तरह के हैं जैसे कोई शरारती लडका कुछ देर के लिए एकाएक गम्भीर हो जाए। प्रयोग यहाँ अपनी ताकत आजमाने के लिए है, जीवनानुभूति के भीतर से फोड़कर निकली किसी गहरी सर्जनात्मकता की अभिव्यक्ति के लिए नही। इन प्रयोगो मे शब्दो के भीतर टोह लेने की सजग कोशिश है, उन्हें हाथ मे लेकर तौलने-अन्दाजने की। यह कोशिश बाद मे रग लायी, शब्दो के स्वभाव की अच्छी पहचान से कवि एकदम चकित करने वाले अर्थ की सृष्टि कर सका, इसका उदाहरण हमें सिंची छत से 'तिप्-तिप्' में मिलता है।

'युद्ध के किनारे' तक आते-आते कवि-मन के भीतर का 'आदमी' उसके 'शिशु' को पीछे कर खुद सामने आने लगता है। रास्ते से गुजरती रोशनियाँ यथार्थ-बोध के एक जगल की तरह उसके मन के चारो ओर घेरने लगती है। कवि शायद पहली बार महसूस करने लगता है कि 'रोशनी का मतलब/है/हथियार डालना'। अगली कविता है 'आईना' जिसमे वह 'शिशु' और वह 'आदमी' एक साथ आमने-सामने प्रकट होते हैं। आईना कवि का वह अपनापा है—'हममे स्वतन्त्र, पर विश्वसनीय,/अत्यन्त निजी' ('शुक्र—३') —जिसमे वह जीवन की राह देखता पाता रहा है। पर तभी :

आते हैं जगल से मेरे मगे,
फुफकारते, हँसते
लम्बे दाँत वाले, नीले फिकरे कसते
खीसें वारते

यह है यथार्थ का चेहरा जिससे उसे निबटना होगा। अपने एकान्त और पावन निजत्व को खण्डित करने वाले चेहरो के आगे एक बार तो 'बच्चो की तरह उस समय/हाथ फेंकता है वह', पर दूसरे ही क्षण अपने निजत्व के आईने मे खुद को देखकर उसमे यह बोध जागता है कि वह अब अखण्डित नही रहा। अपनी सरल जीवनेच्छा को खण्डित करने वाले विष उगलते चेहरो को सगा बताने' के पीछे कही यह स्वीकार है कि उसकी दुनिया उसके भीतर नही अब बाहर उस यथार्थ मे ही है। कविता के अन्त का यह कथन

कि 'अब मैं वह नहीं रहा' को अगर अक्षरश: सत्य न भी मानें तो भी यह अनुभव कर सकना मुश्किल नहीं कि परिवर्तन की कोई रासायनिक क्रिया उस मन में शुरू हो चुकी है। ठीक इस कविता से ही नहीं, पर यहाँ आकर उस क्रिया के टूटते-बनते रंग और फूटते बुलबुले देखे जा सकते हैं।

इस संयुक्त मन पर यथार्थ की प्रतिक्रिया का एक चित्र 'पायस प्रेक्षागृह' में मिलता है। इस कविता में बदले हुए सामाजिक परिवेश और उनसे जुड़े मूल्यों के बदलाव का अंकन है। कविता के शब्द चयन पर गौर कीजिए तो एक तरफ दर्जी की दुकान, रेलें, छापखाने, योजना, गलियाँ, नहरें, तलवार, मशीन, बिजली, कारें, बत्तियाँ, टाइप-राइटर, मेज़ और कुकुरमुत्ते हैं तो दूसरी ओर बौछार की कुसुमित लता, मचलती हवाएँ, वसन्तोत्सव, समुद्र, हृदय, पल्लवित आभा, कपोल के आँसू, पुरइन, घटाओं में आम्रपल्लव, अधर, मंजरियाँ और इन्द्रधनुष हैं। जिस भाव-संसार से ये शब्द उपजे हैं वह एक नहीं दो हैं। एक महत्वपूर्ण बात इस कवि को समझने में यह है कि भाव-संसार के ये दोनों स्तर आमने-सामने होते हुए भी परस्पर टकराते नहीं। इनके बीच का विरोधाभास न तो कवि की अनुभूति में है न उसके द्वारा सम्प्रेषित अर्थ में। भाव के ये भिन्न बोध-स्तर बिना किसी द्वन्द्व या टकराव की चेतना के एक सह-अस्तित्व में श्रीराम वर्मा में दूर-दूर तक मिलते हैं। इनकी राजनीति-मुखर चेतनावाली कविताओं तक में। इन दो भिन्नताओं के बीच किसी 'गैप' को तीव्रता से महसूस न करना—इस 'गैप' में अपनी सर्जनात्मक कल्पना की कमन्द फेंककर किसी नए अर्थ की तलाश न करना—श्रीराम वर्मा की काव्य-उपलब्धि को हमारे लिए काफी कुछ सीमित कर देता है। श्रीराम की चेष्टा अधिकांश में तो इन दो विरोधी तत्वों को आपस में घुलाने की ही रहती है, उनके अन्तर्विरोधों को उभारने की नहीं। विडम्बना यह है कि ये विरोधी तत्व परस्पर घुलनशील नहीं हैं।

कवि-व्यक्तित्व के ये दो भिन्न बोध स्तर आखिर हैं क्या? श्रीराम वर्मा ने जब अपनी काव्य यात्रा शुरू की तब उनके पास सिर्फ अपनी अनुभूति की पूँजी मात्र नहीं थी, बल्कि साथ में एक ऐसी पूँजी भी थी जो उन्हें हिन्दी की काव्य परम्परा से मिली थी। तब नयी कविता की जबान पर छायावाद का स्वाद पूरी तरह मरा न था। नयी कविता मूल रूप में एक साहित्यिक आन्दोलन था—साहित्य परिवर्तन की एक नयी दृष्टि। अपनी प्रेरणा में वह बदले हुए परिवेश से ही उद्भूत थी, पर उसने स्वयं उस परिवेश को बदलने की भूमिका नहीं निभायी। यह काम आगे आने वाली पीढ़ियों के हाथों होना था। इसलिए नयी कविता का भावबोध नये मानव-मूल्यों की रचना पर आग्रह के बावजूद 'साहित्यिक' था। छायावाद जितना घनिष्ठ साहित्यिक तो नहीं, पर प्रगतिवाद में जन भावना की मुक्त अभिव्यक्ति में 'साहित्य' को 'रोक' (सेंसर) मानने की जो व्यापक प्रवृत्ति पनपी थी उसे देखते हुए, काफी दृढ़। नयी कविता परम्परा के प्रति विद्रोह करते हुए भी उस परम्परा को जरूरत से ज्यादा नष्ट होने नहीं देना चाहती थी। उसकी चेतना में निर्माण से कहीं ज्यादा रक्षा का भाव निहित था। रक्षात्मकता

की इस निषेधात्मकता के कारण ही नयी कविता म एक प्रकार की तटस्थता, डूबने मे भी चौकन्नेपन का भाव, शिल्पगत सफाई और भाव सयम मिलता है। श्रीराम वर्मा के भावबोध का एक स्तर हिन्दी कविता के इस इतिहास से निर्मित है। श्रीराम जीवनानुभूति के तीव्र क्षणो मे भी साहित्य से स्खलित नही होते। अनुभव की अराजकता मे से गुजरते हुए भी उससे एक मुनासिब दूरी व बनाय रखते हैं। उनकी कविताओ के शीर्षक ही देखिय व कविता की रचना प्रक्रिया म से छिटककर तो निकल हैं, पर कुछ इतने दूर जा छिटके है कि कविता और उनके बीच एक अन्तराल सा बन गया है—एक साहित्यिक अन्तराल। वे काव्यात्मक सूझबूझ क साथ कविता पर चिपकाये गये से लगते हैं।

कविता के भीतर भी एक ओट उनके और रचना का आकार लेत अनुभव के बीच रहती है। प्रकृति इस ओट का एक उपादान है। श्रीराम की काव्य सवदना मे यह प्रकृति भिनी हुई है। छायावाद म प्रकृति एक स्वतन्त्र सत्ता थी जिसके प्रति कवि बराबर के एक सवाद म उन्मुख होता था (निराला की तुम और मै दीपक प्रसिद्ध कविता की यहाँ याद हो आती है)। नयी कविता म प्रकृति मानव अनुभूति के अन्तवर्ती स्तरो पर कवि की सहचारिणी बनी। पर आज की कविता म प्रकृति भाषा म घुल-मिलकर उसका एक जरूरी उपादान बन कर रह गयी है। पहले प्रकृति कुछ कहने का माध्यम' थी—इस 'माध्यम' स कवि का तादात्म्य स्थापित कर लेना एक का दूसरे पर आरोपण था—कवि की बात कवि के मुख स न निकलकर प्रकृति के मुख से निकली, प्रकृति और मनुष्य के बीच द्वैध की स्थिति मे कोई मौलिक अन्तर न था। नयी कविता ने माध्यमत्व दोनो का स्वीकार किया—प्रकृति का भी मनुष्य का भी। पर आज के औद्योगिक समाज क बदलत हुए परिदृश्य म प्रकृति न तो माध्यम है, न मनुष्य के समानान्तर कोई अन्य सत्ता कि जिस पर कुछ आरोपित किया जाय। सूर्योदय, बादल आसमान, चिड़ियाएँ छायावाद म प्रकृति-सत्य की मूर्तिमान जीवन्त सत्ताएँ थी नयी कविता में वे प्रतीक और बिम्ब बनी, और अब व भाषा-कोश म निश्चित अर्थ देनवाल शब्दो म बदल गयी है। बात यह है कि प्रकृति अब एक सपाट हकीकत है जैसे कि मनुष्य एक सपाट हकीकत है—दोनो का ही कोई 'साहित्यिक उपयोग नहीं रहा। कहने वाले कह सकते है कि समसामयिक कविता प्रकृति-काव्य की दृष्टि स विपन्न हो गयी है। पर अब प्रकृति की ओट न रहने स अनुभूति के खरपन की आच ज्यादा आसान हो गयी है और यथार्थ के साथ सीधा साक्षात्कार सम्भव हो सका है यह व भी मानेगे।

श्रीराम वर्मा म प्रकृति स्वतन्त्र नही है, वह मनुष्य के साथ ही चलती है, हाँ कभी-कभी इस चलने म मनुष्य थोडा पिछड जरूर जाता है। पर श्रीराम की यह प्रकृति नयी कविता वाली ही है, आज की निष्क्रान्त भाषा-चेतना वाली नही। उनकी प्रकृति साहित्य स अलकृत है। ये अलकार कुछ तो छायावाद-नयी कविता के है और कुछ सीधे सस्कृत साहित्य-परम्परा मे लिए गए हैं। 'साहित्य स्मृति मे सुरभित कवि-समय (बांबी से इन्द्रधनुष), उपमाएँ ('चाँदनी की मछलियाँ', बर्फ के बादल), शब्द ('दिक्काल

चक्रवाल', 'सायतनी', 'रविकोरव', 'अनामय', 'ज्वलन्त रश्मि-गति के चक्राकार वर्ग म स्वयप्रकाश') और अभिव्यञ्जना कौशल, यह सब श्रीराम वर्मा की कविता म है। ये सब उनकी अनुभूति को महज चित्रात्मक बनाते हैं, अर्थ-व्यञ्जना की कोई नयी लकीर नही डालते। अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के उपादानों पर आग्रह श्रीराम का मोह नही है (मोह देर-सबेर दूर हो सकता है), बल्कि काव्य-चेतना का एक अभिन्न स्तर है और वह उनके व्यक्तित्व के उस दूसरे स्तर के पडोस मे ही है।

श्रीराम वर्मा के कवि-व्यक्तित्व के दूसरे स्तर का ताल्लुक उनकी ज्ञानात्मक सवदना स है। यह उनकी प्रतिभा के लिए अर्जन का क्षेत्र है, जिसमे उनकी सर्जनात्मक कल्पना ने उनका पूरा साथ दिया है। यथार्थ को श्रीराम केवल अनुभूति के स्तर पर ही नहीं, एक कल्पनात्मक ऊर्जा के रूप मे भी ग्रहण करते हैं। उनका यथार्थ पल्लवित यथार्थ है। यह कल्पनात्मक ऊर्जा उन्ह यथार्थ के नय-नये रूपो, प्रदेशो का आविष्कार करने को प्रेरित करती है। यह उल्लेखनीय है कि श्रीराम वर्मा की आविष्कार-क्षमता साहित्यिक परम्परा से प्राप्त सवेदन के क्षेत्र मे उतनी नही (वहाँ प्राय सब कुछ निश्चित और ठस है), जितनी यथार्थ के सवेदन-क्षेत्र मे क्रियाशील होती है। उनकी इस क्षमता के सशक्त उदाहरण नयी कविता ७ और ८ म प्रकाशित उनकी 'शब्दो की शताब्दी' और 'मैल' शीर्षक कविताएँ हैं। इस सग्रह म 'परिवार नियोजन' शीर्षक कविता का यह अश देखिए

दायी जेब मे जरूरत की सारी चीजें
बायी मे रोजगार दफ्तर।
भैंस के पेट म बजता ट्राजिस्टर।
भाई हवाई जहाज पर बरांय
भतीजा पानी के पोत पर इतराय।
धोबी का कुत्ता (न घर का न घाट का)
मुहावरा बदल कर कीमती साबुन से नहाय।

इस तरह श्रीराम वर्मा यथार्थ को सिर्फ भोगते नही उसे रचते भी हैं और इस प्रक्रिया मे यथार्थ अनुभव के आयाम को विस्तृत करते हैं। न सिर्फ विस्तृत, बल्कि अपने तमाम ब्यौरों के साथ सटीक भी। वे यथार्थ को लेकर उड जाते हैं, पर साथ ही जमीन का वह टुकडा भी साथ ले जाते हैं जिस पर वह यथार्थ टिका होता है। यथार्थ की उनकी पहचान नगी आँखो की पहचान नही है, पर यथार्थ पर उन्होने नयी कविता के कवियो की तरह दार्शनिकता का चेहरा भी नही चढाया है। उनका यथार्थ रक्त मे बजता, अनुभूति की तात्कालिक ऊष्मा मे स्पन्दित यथार्थ है, ठण्डा, निरावेग या बुद्धि की आँखो देखा हुआ नही, हालाँकि जहाँ ऐसा कही है वहाँ भी वह मार्मिक और चोट करनेवाला है, जैसे कि 'चौराहे पर मीनविच का एकालाप' मे। एक बानगी

क्या तुम्हे नही लगता कि जूँ तक हम से ज्यादा आजाद हैं,
सुखी हैं। और दरअसल क्या यह सभ्यता उन्ही की नही है?

श्रीराम वर्मा का यथार्थ आज के समय में घटता हुआ यथार्थ है और इस यथार्थ की भाषा भी वे अपने आसपास में ही चुनते हैं। पर कभी-कभी लगता है कि वह यथार्थ श्रीराम की अनुभूति में न होकर उनकी भाषा में है, अनुभूति और शब्द के बीच की सन्धि में नहीं, शब्द और शब्द के बीच की सन्धि में। वे भाषा में ही उस यथार्थ की अनुभूति को पाते हैं। पाने के पहले खोजते और छूते हैं। सर्जनात्मक भाषा का अवश्य ही यह एक ऐसा आयाम है जहाँ भाषा केवल अनुभूति को अभिव्यक्त करने का माध्यम मात्र न होकर अनुभूति को रचने और स्वायत्त करने की प्रक्रिया का अंग बन जाती है। इस भाषा के जरिये ही श्रीराम अपने परिवेश के यथार्थ की तरफ बढ़ते हैं। यह यथार्थ उन्हें अपनी ओर खींचता है, उनके केन्द्र से बाहर एक व्यापक परिधि की ओर। प्राप्त अनुभव से अर्जित अनुभव की ओर। श्रीराम वर्मा की ज्ञानात्मक संवेदना की यह सहज और स्वाभाविक गति है। इसीलिए निराई अनुभूति के यथार्थ की अपेक्षा वे घटित हो रहे अनुभव के यथार्थ की तरफ ज्यादा आकृष्ट होते हैं, चाहे वह यथार्थ चुनाव हो, युद्ध हो या राजनीति। श्रीराम वर्मा की समस्या यह है कि वे अपनी कविता में केन्द्र और परिधि दोनों को ही नापना चाहते हैं। मूलतः साहित्यिक सौन्दर्यबोध और वैयक्तिक अनुभूति में ही पनाह खोजती भाषा से निर्मित यह केन्द्र एक तरफ है और उससे छूटकर फैलती-पसरती, आधुनिक परिवेश में पनपती चेतना दूसरी तरफ। दोनों की परस्पर विरुद्ध गतियाँ—एक की केन्द्रोन्मुख (सेन्ट्रीपीटल), दूसरे की केन्द्रविमुख (सेन्ट्रीफ्यूगल)। श्रीराम जितना ही इन दोनों को पास लाने की चेष्टा करते हैं उतना ही इनके बीच की दूरी (कंट्रास्ट) को बढ़ाते हैं। अपनी कल्पना ऊर्जा द्वारा कभी वे उन्हें आपस में घुलाने की भी कोशिश करते हैं, जैसे 'सो गये लक्ष्मीकांत' शीर्षक कविता में। उनकी यथार्थ-चेतना के प्रवाह में जो बड़े बड़े साहित्यिक टीले और पत्थर हैं वे उनकी भाषा-चेतना और उसके माध्यम से उनकी अनुभव चेतना की गति को सुस्त और धीमा बनाते हैं। कई बार जहाँ कहीं उनकी अनुभूति यथार्थ चेतना का आगे कर बढ़ती है वहाँ उनकी भाषा उसे पीछे खींचने लगती है। जहाँ इस तरह के अवरोध नहीं हैं—जैसे किसी छत से टिप् टिप् में—वहाँ उनकी सर्जनात्मकता मुक्त और आत्मीय है भाषा से एकरस, अनुभूति से एकाग्र जुड़ी और अर्थ सृष्टि में नयी

रेंकरेंकरेंकरे
क्या करें
रामरामरामरामरा
मरा करें
या मारें
एक एक को
तक तक के
क्या करें
न दीन-हीन

हम अभी
यहीं करें वहीं करें
नहीं करें
क्या करें
कें कें कें कें
ची-ची चें चें पें-पें
कब तक
तोल
पिस्तौल
पिस पिस पिस-
त रहे
तब तक

यह मानो शब्द के साम्राज्य में घुसकर मनचाहा अर्थ लूट ले आने की चेष्टा है—साहसिक और खुलकर। इस चेष्टा में कभी-कभी बहक जाने का भी खतरा बना रहा है—और इसका उदाहरण भी इसी कविता में मिलेगा—पर यह एक ऐसी राह है जिस पर चलते समय कवि अपने व्यक्तित्व के दुहरे दंश से मुक्त रह सकता है। श्रीराम वर्मा को इस राह पर चलने में मजा भी खूब आता है। पर जैसा कि कहा गया, उनकी असली समस्या अपने व्यक्तित्व के उन दो पक्षों को एक में संघटित करना है, न कि उन दोनों में समझौता कराना। श्रीराम वर्मा अगर अपने लिए यह संघटन सम्भव नहीं कर पाए हैं तो इसकी वजह है उनमें पर्याप्त बौद्धिक ऊर्जा का अभाव। दो पक्षों को एक में संघटित करने का जो रास्ता हम आज सुलभ हो सकता है वह है उन्हें एक तीसरे पक्ष में अतिक्रान्त करना, और इसमें बौद्धिक ऊर्जा एक निर्णायक भूमिका निभाती है। रोमाण्टिकों (निराला) और बिम्बवादियों (शमशेर) के पास दो पक्षों को एक में संघटित करने का साधन था उनकी उच्च तापवाली भावनात्मक ऊर्जा। इस प्रक्रिया में बनी रचना में भावना का रस घटक होता है और उस रचना का तनाव भी भावावेग के स्तर पर ही सक्रिय होता है।

जिसे लक्ष्मीकान्त वर्मा 'शरारतपूर्ण सह-संयोजन' कहते हैं उसमें गम्भीर और अगम्भीर के दो पक्षों को अगल-बगल रख देने मात्र से नये अर्थ की सृष्टि नहीं हो जाती। गम्भीर और अगम्भीर का संयोजन चमत्कृत करने वाले अर्थ की रचना के लिए बौद्धिक ऊर्जा की माँग करता है। विपिन कुमार अग्रवाल और विनोद कुमार शुक्ल की 'शरारतों' के पीछे वही बौद्धिक ऊर्जा है, जबकि श्रीराम वर्मा की 'शरारतों' में कल्पनात्मक ऊर्जा ज्यादा काम करती दिखायी देती है। इसीलिए उनकी शरारतें एक भिन्न प्रकार का स्वाद देती हैं। इस स्वाद में उनके व्यक्तित्व का हमारा परिचित वही भोलापन मिला हुआ होता है। चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में लिखी उनकी 'बेवजह एक सामना' कविता देखिए :

ये हमारी मेड़ें है,
जहाँ खड़े होकर वे
हमसे कहते हैं
तुमने चुरायी है
हमारी भेड़ें।

जरा सी दुनिया पर जमी नही हमारी धार,
ये बोल पड़े तुम ले गये हमारे कुछ यार।
बड़े तुक्कड़ हैं,
जिन्हें हमने कवि समझा था।

माओत्सतुग (कवि) जैसे 'गम्भीर' शत्रु पर 'तुक्कड़ के अगम्भीर' निशाने का धार हम गुदगुदाता हुआ 'विचलित' कर देता है। आगे इन शत्रु महोदय का एक चित्र यो है

कंडेबाज इतन
कि साइकिल चलाओ
चौकस
और अचम्भे के बच्चे की तरह
भौचक
सामने आकर पकड़ लेते हैं
हैण्डिल,
और मुश्किल कर देते है
सम्हलना सम्हलना तक।
कि हम आगे न जा सके।

ऐसे शत्रु स कोई नफरत करे या प्यार, या उस पर मुस्कराए ? न, यह कविता केरीकेचर नही है। खास तौर से जब हम कविता की अन्तिम पक्तियो पर आते है तो इस बात मे सन्देह की गुजाइश नही रह जाती कि कवि की मशा एक गम्भीर वस्तुस्थिति और उसके प्रति अपने लगाव की अनुभूति की ईमानदार सजीदगी के साथ अभिव्यक्त करना ही है

क्या बात हो सकती है
इस तरह
जब उठ रहा हो धुँआ ?
या तो इस धुँए को खत्म करो
या इतना होको
कि भट्ठी आ जाय—
बात चले न चले,
बात खत्म हो जाय।

दरअसल इस कविता म गम्भीर आशय और अगम्भीर तेवर का सयोजन किसी सजग

बौद्धिक प्रेरणा से नहीं, कवि के शिशु-मन की सहज तरंग के कारण सम्भव हो सका है। यह तरंग जब तक अगम्भीर रंग में रहती है तब तक हमें शरारत या रचनात्मक सुख देती रहती है, पर जहाँ वह गम्भीर बनने की कोशिश करती है वहाँ कविता के अनुभव के सरलीकरण की ओर बढ़ने लगती है। वयस्क बनने की चेष्टा में कवि उद्बोधक बनता नजर आने लगता है। 'बेवजह एक सामना' का अन्त भी एक उद्बोधन में ही होता है। यही उद्बोधन 'पावस प्रेक्षागृह' के अन्त में भी है—आओ,/उसे सूघें/टोहें,/ दृढ़ता से चुनें/और नये चेहरों पर बुनें।' जहाँ अगंभीर की मिलावट से रहित श्रीराम खालिस गम्भीर होते हैं वहाँ पर वे खालिस उद्बोधक होते हैं—देखिए 'न्याय-दण्ड' शीर्षक कविता।

वस्तुस्थिति यह है कि आज के ज्ञान संवेदनात्मक (गभीर) यथार्थ के प्रति खुली दृष्टि रखते हुए भी श्रीराम इस यथार्थ को अधूरे रूप में ही जी पाते हैं, क्योंकि यथार्थ को पूरा जीना उसे भाव-ऊर्जा के साथ-साथ बुद्धि-ऊर्जा में भी जीना है, जो फिलहाल वे नहीं कर पाते। आज के लिए प्रासंगिक काव्य के अनुभव में सिर्फ भाव के सहारे ही नहीं, बुद्धि के सहारे भी पैठना और उसको रचना में रूपान्तरित करना होता है। श्रीराम वर्मा यह काम ज्यादातर अपनी कल्पना से लेते हैं। पर इससे उनके अनुभव के यथार्थ पर एक तरह की अयथार्थता छा जाती है और रचना का अर्थ ज्यादा से ज्यादा सप्रेषणीय बनने के बजाय कवि के मन में ही सिमटता चला जाता है। शायद यही कारण है कि उनकी कविता में आम बोलचाल की भाषा की उपस्थिति तो है पर उस भाषा के पीछे की धार नहीं। यह कविता आज के जीवन के निकट आते-आते वहीं एकदम पीछे ही ठिठक जाती है। श्रीराम आज के अनुभव को रचना में अनावृत करने के बजाय उसकी कविता बनाने लगते हैं, जहाँ उन्हें सीधे-सीधे उस अनुभव से निबटना चाहिए वहाँ वे रुक कर उस पर कसीदा काढ़ने लगते हैं। उनकी कविता खुद उस अनुभव के लिए एक ओट बन जाती है और इस कविता से वे अनुभव के ताप को सह लेते हैं। इस प्रक्रिया में वे अपने पाठक के पास उस अनुभव का ताप नहीं, उस ताप को सह लेने का एक कवि सतोष ही पहुँचा पाते हैं।

कविता का काम भाषा में यथार्थ को रचना है, पर यह काम यथार्थ को शब्दों के भीतर बाँधने से नहीं, उसे शब्दों के बाहर ले जाने से होता है। भाषा में होते हुए भी भाषा से बाहर, यह है आधुनिक रचना की नियति। सिर्फ भाषा में सीमित यथार्थ एक साहित्यिक यथार्थ—और इससे स्खलित होने पर 'शाब्दिक' यथार्थ—होगा। यह सही है कि कविता का यथार्थ भाव-ऊर्जा की जमीन पर ही जन्म लेता है, रस और पोषण भी उसे उसी से मिलता है, पर उसे गतिशीलता बुद्धि ऊर्जा ही प्रदान करती है। बुद्धि ऊर्जा निरन्तर अनुभव की छानबीन, उसकी पड़ताल और उसके विभिन्न अवयवों के बीच एक तनावपूर्ण सतुलन बनाए रखने—और इस तरह अनुभव को एक गहन नैतिक एकाग्रता के धरातल पर स्थापित करने—का काम करती है। वह जो संवेदन है उसे अनुभूति तक और जो अनुभूति है उसे रचना के जटिल अनुभव-स्तर तक उठाती है। वही अनुभव पर

भाषा को फफूंद की तरह जमने नही देती, वही भाषा मे स्थिर हो रहे अनुभव को झिझोड कर उसे पुन शब्दहीन अराजकता की ओर ढकेल देती रहती है। भाव ऊर्जा कविता के यथार्थ को अगर जमीन प्रदान करती है तो बुद्धि-ऊर्जा आकाश। आधुनिक रचना इन दोनो के बीच के किसी तनाव बिन्दु पर सम्भव होती है—रचना मे तनाव व्यक्ति और वस्तु के बीच वह रिश्ता है जिसमे भाव तन्मयता भी है और बौद्धिक झनझनाहट भी। श्रीराम वर्मा की कविता इस तनाव के केन्द्र की तरफ बढती जरूर है—अपनी खुली दृष्टि के कारण ही—पर उसको पूरी तरह दे दी नही जाती। 'शिशु 'आदमी बनते बनते भी अपना शिशुपन' छोडने को तैयार नही दीखता।

यह तो हुई यथार्थ के प्रति रवैये और उसे रचना मे साधने की बात। अब देखना यह है कि उस यथार्थ के प्रति आखिर श्रीराम वर्मा की प्रतिक्रिया है किस किस्म की? यह कहने की आवश्यकता नही कि आज के यथार्थ—और जो व्यवस्था इस यथार्थ को सभव बनाती है—के प्रति पहली प्रतिक्रिया श्रीराम वर्मा की असहमति की ही है। मोहभग और उसके दर्द की गूजें—जिनका कारस नयी कविता के किसी भी नुक्कड पर सुना जा सकता था—इन कविताओ मे नही है। कारण कि मोहभग के बाद के माहौल मे ही श्रीराम की यथार्थ आँखें खुलती है। इन आँखो मे जो चित्र हैं वह यह हैं

न छवि गुह, न पवत खुदे चित्र न कोई थाप चट्टान के तबले की।
न मृगदाव, न स्तूप, न सारनाथ के खण्डहर,
न हरे सगमर्मर, न बुद्ध के उपदेश लिखे स्तभ, न दीपशिखा,
न ही शान्त कछार वरुणा की,
न पदचिन्ह, न झरती दीवार के स्वत बने रूपाकार
न ही दूध-भात खायी हुई थाली फूल की।
सिर्फ बूचडखाने के फर्श की तरह
सुबह का चिरकुट आसमान
खून के ऊपर राख
अनकिए अँधेरा ज्यो बूढा हो गया हो

पर इन आँखो के लिए यथार्थ अब भी सभावना है, एक आदर्श। और यथार्थ की तरह यथार्थ की सभावना का आदर्श भी कवि को अरक्षित करता है। आदर्श से अरक्षित होकर वह पुन उसी की गोद मे शरण पाने को विह्वल भागता है—सग्रह के शुरू की अधिसख्य कविताओ मे माँ और शिशु के सदर्भ इसी परिप्रेक्ष्य मे देखे जा सकते हैं—और यथार्थ के प्रति अरक्षा का भाव उसे उसमे भीतर तक घुसकर उसकी विसगतियो को उघारने को प्रेरित करता है। एक उसे उदास और खिन्न बनाता है, दूसरा असतुष्ट और कटु। आदर्श ने उसकी जिन्दगी हराम की थी, यथार्थ उसे सभ्यता की तरह जरूरी लगता है जिसके बाहर वह जा नही सकता।

कवि को अरक्षित करने वाला वह अनिवार्य यथार्थ श्रीराम का वर्तमान है और उससे वे असतुष्ट है। उनकी दृष्टि इस वर्तमान के नासूरो पर नश्तर सी पडती है। व

उस पर हँसना भी और उसकी चिन्दी उड़ाना भी जानते हैं। किन्तु उनका विरोध उस यथार्थ का पोषण करने वाली व्यवस्था के प्रति सक्रिय विरोध नहीं है। उनकी दृष्टि व्यवस्था मे असहमति की है, उसको बदलने की नही। इससे उनके विरोध का अन्त एक एकालाप मे होता है। इसी से यथार्थ से उनकी मुठभेड आधी मुठभेड रह जाती है। पूरी टक्कर नही, हर बार कुछ बगल मे निकल जाता है। टक्कर जितनी हैं उतने से सिर्फ धुंआ निकलता है, आग नही।

ग्रीनविच के नाम से योरोप और अमरीका के हिप्पियो की याद अनायास हो आती है, शायद इसलिए कि 'ग्रीनविच विलेज' मुख्य मे उस तरह के आन्दोलन का केन्द्र था। हिप्पियो को 'फ्लावर चिल्ड्रेन' भी कहा गया है, सो इसीलिए कि यथार्थ-व्यवस्था के प्रति असहमति और विरोध का भाव उन्हें उस व्यवस्था से रूठकर उसे छोड कर उसके बाहर आ जाने को प्रेरित करता है। श्रीराम वर्मा अपने व्यक्तित्व मे वर्तमान 'शिशु' के बावजूद यथार्थ का निषेध नही करते, वे यथार्थ से और यह यथार्थ जिस समय मे है उस समय से भी रूठकर उसके बाहर नही जाना चाहते। उनका संकट तो यह है कि इस व्यवस्था को

उलट दूं तो मैं
नही रहता मैं।
—मैं हो जाता हूँ।
पर वह लेकर मैं कहाँ जाऊँ?
आक्टोपस की तरह वह मुझे आविष्ट करता
मुझ पर थूकता काला थूक
नही होने देता जूं। और इस सभ्यता से बाहर
अकेला रह कर मैं क्या करूँगा।

फिर अपने इस पहले कविता संग्रह का नाम 'ग्रीनविच' क्यो?

[१९७५]

'पहचान' के चार कवि

ये कवि हैं, आग्नेय, शिवकुटीलाल वर्मा, सोमदत्त और विष्णु नागर। आग्नेय की कविताएँ तब से छपने लगी थी जब नयी कविता का आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष पर था। शिवकुटीलाल वर्मा की कविताएँ भी नयी कविता की कोख से ही पैदा हुई हैं। पर विष्णु नागर एकदम युवतम पीढ़ी के कवि है और अपने से काफी पहले लिखना शुरू करने वाले सोमदत्त की तरह उनकी रचना म भी नयी कविता की कोई स्मृति नही है। इस तरह आग्नेय की कविताएँ यदि एक छोर पर हैं तो विष्णु नागर की बिल्कुल दूसरे छोर पर। दोनो छोरो के बीच समय और सवेदना का काफी लम्बा फासला है। इस फासले को जैसे भीतर अनुभूति की गहराई म वैसे ही बाहर भाषा की सतह पर भी महसूस कर सकना मुश्किल नही। चीजो को देखने, उनसे जुडने या अलग होने का ढग और सवेदना की जमीन पर उस देखने, जुडने या अलग होने को शब्दो म अभिव्यक्त करने का तेवर—कविता के 'मिजाज' का निर्माण करते है। मिसाल के लिए आग्नेय की कविता मे फूल धूप, चिडिया, मूस, आदि चीजो स कवि का जो सम्बन्ध है वह उन्हे चीज नही रहने देता, ये तमाम चीजें उनके यहाँ अनुभूतियो के सजीव स्पन्दनशील आकार बन जाती है, जिनके माध्यम से कवि कोई अर्थ रचना और सम्प्रेषित करना चाहता है। 'माध्यम' शब्द पर गौर कीजिए। कवि एक छायावादी कवि की तरह चीजो स अपनी अनुभूति या कल्पना म एकात्म नही हो जाता, इसके विपरीत उसके और वस्तुजगत के बीच एक दूरी हमेशा बनी रहती है। इस दूरी को निरन्तर साधते रहना और उसी मनोदशा म कोई बात कह जाना उसका कविकर्म है। छायावादी कवि की अपेक्षा मुश्किल कवि-कर्म। नई कविता के कवि के लिए चीजे न तो चीजें है, न शुद्ध अनुभूति के छायाचित्र। वे माध्यम हैं, जिनम चीजो का चीजत्व भी सुरक्षित है और अनुभूति की गतिशीलता भी—

धूप
एक वृद्ध की तरह अखबार पढती है।
चमकीला सूर्य
खरगोश की तरह
मेरी आयु के अधियारे घर म घुसता है।

(आग्नेय)

यह नयी कविता का मुहावरा है। प्रकृति के साथ एक ऐसी आत्मीयता जिसमे प्रकृति केवल वस्तु नही कि जिसका काव्यात्मक इस्तेमाल किया गया हो, बल्कि अनुभूति-सत्य के समानान्तर चलती एक अलग हस्ती भी हो, जो जब अनुभूति-सत्य के दायरे मे प्रवेश करती हो तब उससे टकराकर एक स्वतन्त्र अर्थ-सत्ता को जन्म दे सकती हो।

आकाश रुक गया था
पक्षी भी रुक गये थे
गलियाँ सहमी हुई थी
और सडकें जैसे चलते-चलते जम गयी थी
फूल खिलते खिलते रुक गये थे
और पेडो मे न नयी पत्तियाँ उग रही थी
और न पुरानी झड रही थी

(शिवकुटीलाल वर्मा)

मुहावरा वही है, पर यहाँ एक फर्क आ गया है। दृश्य की पहचान पर अनुभूति की तरलता और लयात्मकता (जो हमे आग्नेय मे यहाँ अक्सर मिलती है) नही, एक विचारवान खुलापन है। अनुभूति के दृश्य मे जैसे किसी आशय के सकेत मे गुँथी हुई प्रकृति साफ-साफ अकित है। प्रकृति अभी भी अनुभूति और वस्तु-सत्य के बीच दुभाषिए का काम करती है, पर अब वह यह काम पूरे मन से नही करती, क्योकि उस मन मे फाक पड गयी है, चीजो के माध्यमत्व मे कही कोई दरार पैदा हो गयी है।

चीते सी चालाक
व्यवस्था मे
जिन पौधो को वृक्ष बनाने के लिए
हमे
इस्तेमाल किया जा रहा है
उन पौधो के फूल-पत्ते
इस कदर दिलकश होते हैं
कि आप
खिचे चले जायें, उन्हे छुएँ
छूते ही
फूल मगरमच्छ के जबडो से
बन्द हो जायें
पत्ते छिपकलियो की सफाई से
बढ़कर
आप को लील लें

(सोमदत्त)

सोमदत्त की कविता मे प्रकृति से सी गयी चीजें कम है—फूल, पेड़, पत्ती

चिड़िया की अपेक्षा जानवर, कुर्सी और दफ्तर मा बाबू उनकी कविता क आशयों को ज्यादा सहजता स ग्रहण और व्यक्त कर पाते हैं। सोमदत्त की कविता का मिज ज एक तरह से प्रकृति विरोधी है। ऊपर जो उद्धरण दिया गया उससे स्पष्ट है कि प्रकृति के उपादान जो आग्नेय और शिवकुटीलाल वर्मा के यहाँ कवि और वस्तुजगत के बीच एक खास किस्म की सवेदना के रिश्ते को फलीभूत करते थे यहाँ सिर्फ वस्तुओ के नाम हैं, जैसे पूछ, नाल, जबडा, सडक अखबार आदि ठोस हकीकतो को सूचित करनेवाली वस्तुओ के नाम हैं। काव्यात्मक आतरिकता का वह ससार जिसम वस्तुए अपने वस्तुपन की आधारभूत सत्ता को सुरक्षित रखने हुए भी अनुभूति की चुम्बकीय तरगो के खिचाव मे एक भिन्न अर्थ सत्ता को रचने लगें, सोमदत्त को विरासत म नही मिला। इसीलिए उनमें वह अनावश्यक रहस्यात्मकता भी नही है जो अनुभूति और वस्तुजगत के बीच के नाजुक सतुलन मे किसी गडबडी के कारण पैदा होती है। सोमदत्त इसस बरी हैं। वे चीजो को चीजो की तरह ही लेते हैं, नगी और सपाट। उनकी चीजो स जो कविता मसार बनता है वह कवि और उन चीजो के बीच किसी खास किस्म के रिश्ते स नही, वह बनता है उन चीजो के आपसी सम्बन्ध और आचरण स। कवि को इस सम्बन्ध के बनाने और उनके आचरण को नियत्रित करने म कोई दखल नही। इसलिए सोमदत्त की कविता मे चीजो के अनुभव है, चीजो की अनुभूति नही।

चीजो को अनुभव की आदत स मुक्त कर वस्तु बोध की एक नयी स्वच्छन्दता के पास वापस लाने की—और इस तरह चीजों के साथ कवि के एक नये सम्बन्ध को प्रस्तावित करने की—कोशिश विष्णु नागर म नजर आती है

चिडिया
मैं फिर कहता हूँ चिडिया
अपने घोसले स बडी है
घोसले म बडी चिडिया का
अपना कोई मोह नही होता
वह दूसरे क चुगे दानो म
अपना स्वाग बीनती है।

(विष्णु नागर)

यहाँ 'चिडिया' के साथ उस तरह के काव्यात्मक सस्कार नही जुडे हैं जैसे कि आग्नेय या शिवकुटीलाल क यहां, इसलिए कवि और वस्तुजगत के रिश्ते मे चिडिया का स्थान निश्चित नही है, वह न तो वस्तु है, न अनुभूति की स्क्रीन पर चलती फिरती कोई छाया, न माध्यम। वह अर्थ की एक एसी सभावना है जो अनुभूति म होते हुए भी अनुभूति से बाहर है।

नयी कविता स आज लिखी जाने वाली कविता के फर्क को ये कवि एक प्रक्रिया की तरह अपनी कविताओ म अकित करते हैं, पर स्वय उस प्रक्रिया को अपने पक्ष म मोड़ कर रचना की किसी स्वतत्र ऊँचाई तक नही पहुँचते। इनके लिए रचना म

स्वतन्त्रता का अर्थ फर्क की उस प्रक्रिया को अधिक से अधिक पारदर्शी करते जाना और ऐसा करने मे अपने कवित्व की एक विशिष्ट छवि उभारना है। पर यहाँ भी सब समान रूप से सफल नही हो सके हैं।

आग्नेय की कविताओं के मनोविज्ञान मे अन्तर्जीवन और बाह्य परिवेश के बीच एक नाजुक सतुलन को बनाये रखने की वही चेष्टा दिखाई देती है जो नयी कविता की मनोरचना का बुनियादी पहलू है। लेकिन आग्नेय इस सतुलन की केवल व्यवस्था अपना पाते हैं, उससे फूटती हुई ऊर्जा नही। उनकी अभिव्यक्ति मे जो सफाई और सतर्कता है और उनकी भाषा में जो रख रखाव है वह यही जाहिर करता है कि वे अपनी काव्यानुभूति के अवयवों को करीने से एक क्रम मे व्यवस्थित कर लेते हैं। उनमे कोई लडखडाहट नही। उनमे नयी कविता की सवेदना की तरलता और रागात्मकता है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उनमे उस सवेदना का ताप और भावनात्मक गुम्फन नही है। नयी कविता के मिजाज मे एक ऐसी घुलावट थी जो यथार्थ के बखान के बावजूद यथार्थ की नोकें चुभने न देती थी, और अगर वे चुभती भी थी तो 'दर्द' की शक्ल मे। आग्नेय की कविताए उस 'दर्द' को हल्के फुल्के रगो के बिम्ब और चित्र बनाकर पेश करती हैं· 'मेरे प्रेम का एक सूर्य था। /उस सूर्य म बादल की रग-बिरगी चिड़िया/उडती है। /वह बादल उडता उडता आता है, / वह चिड़िया विभक्त होती हैं/ मेरे हृदय मे / मेरे हृदय मे एक नदी थी/उस नदी मे एक पीली मछली बहती है। / सूर्य का एक बहुत बडा टुकडा/टूट जाता है/तुम्हारे प्रेम मे' (प्रणय वेला के उत्तरार्द्ध मे)। / 'हृदय का एक आकाश होता।/ है तुम्हारा चन्द्रमुख स्मरण आने पर/मैं उसमे उडते पक्षियो की सख्या/गिनता।/ हाय ! मेरे हृदय ! तुम आकाश ही/क्यो न हुए ? / मैं प्रेम के इस उतरते बसन्त को, / तुम्हारे सूर्य-वक्ष पर चित्रित / करता / (आकाश)।

आग्नेय की ज्यादातर कविताओ की थीम है प्रेम। किन्तु आश्चर्य है कि इन कविताओं मे प्रेम का कोई गहन अन्तर्संघर्षपूर्ण सवेदन और उसका आवेग नही, एक सरल भावुकता और उदास अन्तर्मुख चिन्तन मिलता है। इसका कारण शायद यह है कि प्रेम का अनुभव कवि के लिये यथार्थ का अनुभव न होकर आदर्श का अनुभव है। प्रेम उसे जीवन के सुन्दर रूपो से जोडता है, पर कवि प्रेम की सिद्धि के लिए चेतना की किन्ही गहराइयो या सच्चाइयो में नही उतरता, अगर उतरता तो वहाँ उसे प्रेम की दुर्गमता और जटिलता मे दो चार होना पडता। इसके विपरीत कवि अपने प्रेम मे उत्तेजक कल्पना के स्वनिर्मित ससार की सतह पर ही रह जाता है। इसीलिए आग्नेय के प्रेम की स्त्री एक काल्पनिक स्त्री है, वह मूर्त्त नही, आकाश, नदी, चिड़िया, वसत, धूप, इन्द्रधनुष, शाम, फूल आदि के सूक्ष्म बिम्ब-चित्रो मे अमूर्त्त और पकड से परे है। कवि अपने कल्पना-नत्रों से उसे देख सकता है, अनुभूति की सश्लिष्ट ऊष्मा मे छू नही सकता, न अनुभव की साझेदारी मे पा सकता है। दरअसल यह प्रेम वैसा ही अयथार्थ, क्योकि अनर्जित है, जैसेकि इन कविताओ मे माँ, पिता, भाई-बहन के रिश्ते अयथार्थ हैं, क्योकि ये सभी आदर्शीकृत हैं। इस रिश्ते मे कवि-सवेदना को उभारने के लिए पिता हमेशा बूढा और

असहाय होता है, माँ हमेशा एक अच्छी माँ की तरह अपने दुलारे बेटे के लिए थाली सजाए रखती है, छोटे-भाई-बहन हमेशा भाई को हीरो का-सा आदर देते हैं, भाभी हमेशा देवर के प्रति ममतालु होती है, घर मे हमेशा तुलसी के बिरवे का घरेलू प्रतीक मौजूद रहता है, और स्वय कवि पता नही क्यो इन सबकी अपेक्षाएँ पूरी नही कर पाता, उनसे सिर्फ लेता ही रहता है, देता (सिवाय अपनी कवि-सुलभ सवेदना के) कुछ नहीं। यह सब 'नवगीत'-काल मे ही अच्छे खासे लटके बन गये थे, यह विडम्बना ही है कि आग्नेय की काव्य प्रक्रिया इन लटको मे निहित विसगति के अहसास से नही, उनके अनुकरण से शुरू होती है।

आग्नेय की कविताओ का काव्यानुभव और काव्यानुशासन अर्जित किया हुआ नहीं, प्राप्त किया हुआ है। अर्जित करने के लिए व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध से बनने वाले अनुभव मे डूबना और उससे भिडना होता, जबकि आग्नेय अपने निजत्व और अपनी परिवेश-चेतना दोनो के ही हाशिए पर नजर आते हैं। इस हाशिए पर नयी कविता के जिये गये अनुभवो की गूँजें है और उसके सिद्ध किये कला-शिल्प की खोखलें। एक थका हुआ सौन्दर्य उस पुरुषार्थ मे है जो उन गूँजो मे अपनी आवाज तलाश करना चाह रहा है और उन खोखलो मे अपनी सवेदना का जीवन।—

मेरे कविमन! तू इस घोर कठोर सत्य को
अन्तिम मानने से
आज क्यो इकार करता है?
तू जो अपने गर्भ की पीडा मे ही
विनष्ट हो जानेवाला भ्रूण है।
तेजस्वी इतिहास-पुरुष का
गौरव-मुकुट धारण करने के लिए
किस तरह व्याकुल है?
(तू जो रचना की अष्टवक्रता से पीडित-मुग्ध युवक है।)

इन पक्तियो मे एक सात्विक ओज है, एक चोट खाये व्यक्ति की दृप्त मुद्रा, किन्तु उसके पीछे अनुभव मे किसी नये शिखर के साथ साक्षात्कार नही, हताशा और मोहभग का तपता हुआ बजर पठार है। प्रेम-कविता की यह विफलता—प्रेम को कविता मे एक सार्थक रचनात्मक अनुभव के रूप मे नियोजित न कर पाने की विफलता—क्या एक कवि के आत्मसामर्थ्य की विफलता है? या इस बीच कविता की समकालीन मान-सिकता मे ही कुछ ऐसा घटित होता गया है जिसके कारण प्रेम धीरे-धीरे विघटित होकर अप्रासगिक होता चला गया? नयी कविता का अच्छा-खासा हिस्सा प्रेमकाव्य है, कही प्रेम के क्षरण का बीज वही तो नही?

नयी कविता मे बाह्य परिवेश और कवि का अन्तर्जीवन दोनों एक दूसरे के सहृदय पडोस मे,एक सतुलनपूर्ण सामजस्य के तहत रचना का समशीतोष्ण माहौल निर्मित करते थे। इस माहौल मे अन्तर्जीवन की सघर्षमालाएँ भी छन कर आती थी और बाह्य

परिवेश की अनिवार्य सच्चाइयाँ भी। इस दुहरे 'एक्सपोजर' में नयी कविता का कवि मानव-सम्बन्धों के प्रति एक बराबरी का दृष्टिकोण अपनाता था। प्रेम मे पडे हुए नयी कविता के कवि के लिए स्त्री न तो कल्पना की वस्तु थी, न उपभोग की। मुश्किल पर यह है कि वह रचना के बाहर कही थी भी नही। असे प्रेम का स्रष्टा कवि स्वय था। शायद प्रेम कवि के लिए एक अनिवार्यता था, बाह्य परिवेश और उसके अन्तर्जीवन को मिलानेवाले एक पुल की तरह। उस प्रेम मे सुरक्षा न थी एक तनाव था। इस प्रेम मे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का सामाजिक-आर्थिक विवेक नही केवल उस सम्बन्ध की रचनात्मकता सिद्ध होती थी। कवि प्रेम को अपने रचनात्मक सतुलन मे झेलता था और यह देखता था कि इसका तनाव टूट कर रचना की परिधि के बाहर स्खलित न हो जाय। क्योंकि प्रेम के तनाव के बाहर स्त्री रचना मे भ्रष्ट हो जानेवाली मानव-सम्बन्ध की एक अर्थवान इकाई नही, एक वस्तु मे बदल जा सकती थी। शायद इसीलिए नयी कविता की श्रेष्ठ प्रेम-कविताओ मे एक तरह की जबर्दस्त स्नायुविक ऊर्जा मिलती है, एक गहन भावाविष्ट रचनात्मक मानसिकता, प्रेम की आश्वस्ति और शीतलता नही। तनाव के टूटने और प्रेम के बिखर जाने का डर रचना के गठन और शिल्प को भी प्रभावित करता है। प्रेम नयी कविता के अनुभव को उदार खुलापन नही प्रदान करता, उसमे मानव-राग की अन्य इकाइयो को शामिल नही करता, बल्कि अनुभूति के एक बिन्दु पर समेटता, केन्द्रित करता, घना करता जाता है। उदाहरण के लिए अज्ञेय और शमशेर की प्रेम कविताएँ देखिए। उनकी कविताओ का प्रेम आपको कसता है एक मार्मिक सघन राग मे जकडता है, आपको तपाता है। उन प्रेम कविताओ म यात्रा करना जैसे एक बीहड अनुभूति प्रदेश मे से होकर गुजरना है। इन कविताओ के प्रतीक और बिम्ब आपको उलझाते हैं, इनके शब्द बहुत कम बोलते और खोलते हैं, ज्यादातर आपको लुभाकर फँसाते हैं। कुल मिलाकर ये प्रेम कविताएँ एक ऐसे जटिल सश्लिष्ट और मार्मिक अनुभव के निकट आपको ले जाती हैं जहाँ न डूबना होता है, न उबरना जहाँ आपका सामना सिर्फ अपने से है। प्रेम यहाँ अपने आपको ही जीना और मारना है। प्रेम का होना रचना के निमित्त सिर्फ रचनाकार के लिए है और इस प्रेम सवेदन की प्रेषणीयता सिर्फ उस तक है जो उस रचनात्मक अनुभव म शरीक हो सकने की पात्रता रखता हो। प्रेम का यह अनुभव एक कला-अनुभव है, एकान्त और स्वनिर्भर। इस कलानुभव को खुराक उस रचनात्मक सतुलन से ही मिलती है।

नयी कविता का यह प्रेमानुभव निराला के प्रेमानुभव से कितना भिन्न है। निराला के प्रेम म मानव जीवन के और और रिश्ते भी सदर्भ रूप म मौजूद रहते हैं, उस प्रेम मे प्रेमी प्रेमिका के साथ वह पूरा परिवेश और उसकी घरेलू आत्मीयता भी एक जीवन्त तत्त्व के रूप म वर्तमान रहती है, सिर्फ एक दर्शक के तौर पर नही, बल्कि प्रेम को पुष्ट करनेवाले गतिशील तत्त्व की तरह। निराला अपनी प्रेम-कविताओ मे अनुभूति सवेदन की आच म पका कर निकल सिर्फ सत्य को ही नही लेते, बल्कि तथ्य की सभावनाओ को सूँघ कर उन्हे बुलाते फिरते हैं। निराला के प्रेम मे एक निस्सकोच खुलापन है, एक बेझिझक मासलता, सिर्फ ऐंद्रिकता नही। यह प्रेम रचना के भीतर रचना की शर्तों पर

(एक अनुभूति ताप-नियंत्रित माहौल मे) रचा गया नही है बल्कि यह रचना के बाहर का मानवीय यथार्थ है जिसे निराला अपनी रचना मे उसके पूरे जड-पत्ते सहित रोपते हैं। इसके विपरीत नयी कविता मे प्रेम कला के शीशमहल मे कैद एक ऐसा राग है जिसे निपुण उगलियां ही छेड सकती है। इस शीशमहल (कला का रचनात्मक सतुलन) के बाहर प्रेम भी एक तथ्य है, यानी एक जैविक सच्चाई। सेक्स।

यह बात गौरतलब है कि जब कला के इस शीशमहल मे रचना का दम घुटने लगा तब उसे मुक्त करने के लिए जो पत्थर फेंका गया वह यही तथ्य था, सेक्स, एक जैविक यथार्थ। इस काम के लिए हिन्दी मे एक भूखी-नगी पीढी उठ खडी हुई जिसने स्त्री और सेक्स को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया। सेक्स एक नया यथार्थ बना। यथार्थ का एक नया अनुभव। राजकमल चौधरी ने सेक्स के यथार्थ को अपनी रचनाओ मे कुछ ज्यादा सामर्थ्य के साथ आजमाया। उन्होंने स्त्री को एक बम की तरह इस्तेमाल किया जिसका धमाका एक पूरे काव्य दशक मे कभी सिलसिलेवार और कभी रुक रुक कर सुनाई देता रहा। राजकमल की मशा भद्रलोक के लिजलिजे पाखड का भडाफोड करना था। पर साथ ही समकालीन यथार्थ मे एक बुनियादी रद्दोबदल की माग करना भी था, जिसकी अपेक्षाकृत साफ तस्वीर उनके 'मुक्ति प्रसग' मे मिलती है। किंतु जो लोग राजकमल के बाद आये उनके हाथ मे सेक्स तोडफोड की एक गैर-जिम्मेदार, अराजक और असाहित्यिक कार्रवाई के अस्त्र के रूप मे ही रहा। उनका साधन और साध्य एक ही थे: सेक्स। सेक्स अन्तर्जीवन की जटिलताओ और बाह्य परिवेश के दबाव दोनो से ही छूट कर रचना की नैतिक जिम्मेदारी से बाहर भाग निकलने का एक रास्ता बन गया।

अपने अयथार्थ प्रेम की वचना और कलाबोध की जकडबदी को तोडने के लिए आग्नेय भी सेक्स का ही इस्तेमाल करते हैं। पर ऐसा वे एक झटके या शॉक के साथ नही करते। उनके मन मे प्रेम का रहस्यालोक, उसका स्वप्न-जाल और काव्य की सगीत-ध्वनियों मे सिमट आनेवाले उसके महान सौंदर्य का मोह काफी देर तक बना रहता है। आत्मपरीक्षण के क्षण मे पहले एक अफसोस उन्हे घेरता है—'दुख की बात है/कितनी जल्दी मन का सौंदर्य नष्ट हो जाता है/इस ससार म।' फिर एक जबर्दस्त ग्लानि—'मेरे प्रेम की नारी! अणिमा! मैं तुम्हारे प्रेम की विराटता को धारण करने मे सर्वथा अयोग्य हूँ/ मैंने तुम्हें प्रेम करना बद कर दिया है।' लेकिन आखिर क्यो? शायद इसलिए कि जिस 'रहस्यमय प्रेम' 'काल्पनिक प्रेम' और 'अनिवर्चनीय प्रेम' के अन्दर वाली चट्टानो-सी 'गर्भवती शारीरिक अनिवार्यताएँ' अब तक कवि को मथ रही थी उन्होने उसे बेपर्दा, असुन्दर, अस्वस्थ करना शुरू कर दिया है। कवि को लगने लगा है कि 'अपने सुखो को अनिश्चित काल तक/स्थगित करते जाने की मूर्ख चेष्टाओ मे/मैं भावुक प्रेम के शिशुसकोच जैसा लगता हूँ।' इस मोहभग की प्रक्रिया के पूरा होने पर यह शोकरहित ज्ञान उदित होता है: 'उदार प्रेम, तटस्थ प्रेम की व्याख्या से रचा मेरा जीवन/काम-युद्ध की ज्वाला मे भस्म हो गया है।/और तभी से मैं अपनी कविताओ के मुख से/प्रेम की काल्पनिक स्त्री के स्तनो को/काटता/पृथ्वी को वेश्या, वेश्या उच्चारित करता हूँ।'

दरअसल आग्नेय की असली समस्या कविता है, प्रेम नहीं। प्रेम न कर पाने की विफलता एक तरह से बदलते हुए समय में बदली हुई कविता न लिख पाने की विफलता है। आग्नेय के प्रेम का आधार स्वप्निल कैशोर्य संवेदन है, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की कोई दायित्वपूर्ण गहन समझ नहीं। अपने प्रेम में वे अकेले हैं, नारी की उपस्थिति के बावजूद। इस प्रेम में सपृक्ति नहीं, इसलिए प्रेम से मोहभंग की पीड़ा भी आसानी से सेक्स की फुरफुरी में डुबोई जा सकती है। जैसे पहले प्रेम से, वैसे ही बाद में सेक्स की इस फुरफुरी से आग्नेय ने अपनी कविता लिखनी चाही है। प्रेम से वे अपनी कविता को अर्थ सपुष्ट न बना सके, सेक्स की फुरफुरी से वे सिर्फ थोड़ा चौंका भर सके हैं, पर यह चौंकाने का काम भी अकवितावादी इतनी तत्परता से और इतनी देर तक करते रहे हैं कि अब सेक्स कविता में कोई फुरफुरी नहीं पैदा करता, एक ऊब और विरक्ति पैदा करता है।

आग्नेय ने सेक्स और राजनीति का एक अकवितावादी घोल भी बनाया है और उसे अपनी 'वियतनाम' शीर्षक कविता में लाल ठोक कर पेश किया है। इसमें भाषा का विन्यास और रेटारिक तो श्रीकान्त वर्मा का है, पैरोडी अकवितावादियों की है, और प्रहार उस अधकचरी राजनीतिक समझ पर किया गया है जो देश की हर समस्या का हल किसी विदेशी मसीहा या क्रान्तिकारी के आप्तवाक्यों में ढूँढती है। इस तरह आग्नेय ने एक तीर से तीन शिकार करना चाहा है। पर दुर्घटनावश शिकार वे खुद ही गये हैं। श्रीकान्त वर्मा के मैनरिज्म की बखिया उधेड़ना एक दृष्टि से वाजिब हो सकता है, क्योंकि श्रीकान्त वर्मा के मैनरिज्म के साथ अपने को एकात्म करके कवि खुद अपनी कविता के मैनरिज्म को भीतर से तोड़ना चाह रहा है। पर अकवितावादियों के सेक्स और अपने उत्साह में अतिरेक तक पहुँचे हुए वामपंथियों को एक ही तराजू पर रखना आग्नेय की राजनीतिक समझ और सर्जनात्मक परिपक्वता पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देता है। व्यंग्य एक दुधारी तलवार है। इसके इस्तेमाल में पुष्ट काव्य-विवेक के अलावा जिस तटस्थता की जरूरत होती है वह आग्नेय में नहीं है। व्यंग्य उनका औजार नहीं है। व्यंग्य के लिये जो सामाजिक चेतना और विसंगति-बोध चाहिए वह उन्होंने अपने प्रेम-कविताओं के जीवनकाल में अर्जित ही नहीं किया। व्यंग्य का इस्तेमाल आग्नेय अपने मन की भड़ास निकालने के लिए करते हैं, किसी सार्थक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं। इसीलिए सेक्स पर व्यंग्य करते-करते वे स्वयं सेक्स का रस पान करने लगते हैं। जिस तरह शुरू की कविताओं में आग्नेय का मक़सद प्रेम और कविता को एक दूसरे में खोजना और पाना रहा है, उसी तरह संग्रह की अंतिम कुछ कविताओं में वे सेक्स और कविता की मिलावट कुछ कर गुजरना चाहते हैं। सेक्स में भी कविता उनका पीछा नहीं छोड़ती, यह उनकी 'अपने खिलाफ' शीर्षक कविता से जाहिर है। यहां पहली बार पूरी कविता का नायक 'मैं' नहीं, 'वह' है, गोकि दरहकीकत यह 'वह' 'मैं' से किसी कदर भिन्न नहीं। इस 'वह' के बारे में कवि कहता है—

वह अपनी कविता का
सही इस्तेमाल करना चाहता है

लेकिन कविता कर लेने के बाद
वह अपने को सुखी संतुष्ट और तनावहीन पाता है।

यह तनावहीनता किसी रचनात्मक उपक्रम की चरम परिणति के रूप में नहीं, 'एक औरत के गरम जिस्म की पकाई गरम रोटियों/और बिछे हुए नरम बिस्तर को' पा लेने के बाद की तनावहीनता है। आग्नेय की कविता का अंत इसी संतुष्ट तनावहीनता में होता है, तनाव के अनगिनत अपरिभाषित सिलसिलों की शुरुआत में नहीं। यह निर्णय हम आग्नेय पर ही छोड़ते हैं कि यह स्थिति उनकी अपनी कविता के खिलाफ जाती है कि नहीं।

आग्नेय यदि नयी कविता की रागात्मकता से जुड़े, तो शिवकुटीलाल वर्मा नयी कविता की वैचारिकता से। शायद इसीलिए उन्होंने आग्नेय से पहले, सिर्फ अहसास के धरातल पर नहीं, एक सजग विवेक के स्तर पर यह देख लिया कि नयी कविता का वह रचनात्मक संतुलन अपने तनावनिर्भर अस्तित्व में हिन्दी कविता को किस मकरे और लगभग अमानवीय रास्ते की तरफ ले जा रहा है।—

कविताएँ सिर्फ कविता ही दिखने के लिए
अपने स्वर को इस हद तक मुलायम करती हैं
कि उखड़ती हुई साँस की घरघराहट एक सधे हुए संगीत में
बदल जाती है और अभ्यस्त कानों को
मौलिक बसुरेपन का पता तक नहीं चल पाता।

इस मौलिक बेसुरेपन के कारण ही शिवकुटीलाल वर्मा नयी कविता के भीतर भी एक संदिग्ध और गैर-व्यक्ति की तरह रह हैं, गोकि हरचंद कोशिश उनकी यही रही है कि वे नयी कविता के भावबोध और कलाशिल्प के साथ अपने कवि का तालमेल बिठा सकें। पर एक तो उनकी अनुभूतियों का स्वभाव कुछ इतना बीहड़ रहा है कि वे नयी कविता के कठोर काव्यविवेक से टकरा कर खड़ खड़ हो जाती रहीं हैं, दूसरे उनके पास भाषा का वह सजग कौशल भी नहीं कि अनुभूति के उन टुकड़ों को चुन कर वे उन्हें एक नए क्रम में सजा सकें। फिर परिवेश की चेतना ने उनके भावयंत्र को और भी जटिल बनाया। अनुभूति का वेग जब अविकसित भाषाबोध से टकराता है तब प्राय बिम्ब की रचना होती है। बिम्ब एक तरह से दृश्य में ढालने की मजबूरी है। इसीलिए शिवकुटीलाल की कविताओं में बिम्ब उनके भावयंत्र को फोड़कर खून से सने हुए निकलते हैं—अनायास और बेलाग। अनुभूतियाँ अपनी अभिव्यक्ति का कोई सहज तारतम्ययुक्त धरातल न पाकर बिम्बों में सिमट आती हैं। ये बिम्ब न सिर्फ गुम्फित अनुभूतियों और जटिल संवेदनों के चित्र हैं, वरन शिवकुटीलाल की अनुभूति का सजनात्मक और मार्मिक अंश प्रायः इन बिम्बों में ही अभिव्यक्त होता रहा है। ये बिम्ब उनके काव्यमर्म को निचोड़ कर पूरी कविता में अलग से चमकते हैं। इन बिम्बों पर कवि के अन्तर्संघर्षों की चमक है और एक खुरदुरी पकड़। ये अधूरेपन के तड़फड़ाते बिम्ब हैं। हर बिम्ब का मूल्य शिवकुटीलाल

वर्मा अपनी स्नायविक ऊर्जा से चुकाते हैं और हर बिम्ब-कविता उनके लिए अपने जीवित रहने का एक सबूत बन जाती है। बिम्बों में एक कवि द्वारा अपने अस्तित्व को तलाश करने और पाने का यह इतिहास शिवकुटीलाल के काव्य-वर्तमान का अविभाज्य अंग है, और जो लोग पत्र-पत्रिकाओं में शिवकुटीलाल वर्मा की कविताएँ पढ़ते रहे हैं वे इस इतिहास से परिचित हैं। दुर्भाग्य से मात्र अट्ठारह कविताओं के इस संग्रह 'कविताएँ' में उस इतिहास की महीन आहट ही सुनाई पड़ती है, उसकी भरपूर उपस्थिति नहीं। वह उपस्थिति निश्चय ही न सिर्फ शिवकुटीलाल के काव्य व्यक्तित्व को आलोचना के औजारों से जाँचने परखने की एक अपेक्षाकृत अधिक संपूर्ण दृष्टि दे सकती, वरन् नयी कविता को भी कुछ ज्यादा नजदीक से देखना संभव बना पाती।

नयी कविता से आज की कविता में यथार्थ के प्रति दृष्टि का जो बदलाव आया है उसे समझने के लिए शिवकुटीलाल वर्मा की कविताएँ एक अच्छा साक्ष्य हैं। नयी कविता का आग्रह यह था कि जो यथार्थ जैसा दिख रहा है उसे कवि वैसा नहीं, बल्कि एक नये यथार्थ के रूप में कविता में रचे। यह यथार्थ भी केवल अनुभूति में झलकता था, कविता के भीतर, संवेदनशील मन की भाव-परम्परा में एक सगे आत्मीय की तरह। यह यथार्थ कवि अपनी सांसों पर लटकती हुई तलवार के रूप में महसूस करता था और चूँकि यह यथार्थ भीतर ही था, इसलिए उससे निबटना भी भीतर ही होता था—कवि का मर्मस्थल उस कारंवाई का मैदान होता था। करुणा और विपर्यय इस भीतरी कारंवाई की अभिव्यक्ति है। बाहरी कारंवाई का अधिक मौजूं हथियार व्यंग्य और आक्रोश होता है। शिवकुटीलाल वर्मा की कविता भीतर-बाहर की संधि पर है। वे बार-बार भीतर जाना चाहते हैं—नयी कविता की उस मानसिकता के भीतर जहाँ रचना में साक्षात्कृत अनुभव ही कवि का वास्तविक जीवन है—पर हर बार वे बाहर की अकाव्यात्मक असुरक्षा और चुनौती के बीच फेंक दिये जाते हैं। शिवकुटीलाल ने इस स्थिति का अधिकतम लाभ उठाने की कोशिश की है। भीतर से बाहर फेंक दिये जाने पर हर बार उन्होंने अपनी अनुभूतियों को देख सकने, परख सकने और अपनी भावनात्मक गुत्थियों को सुलझा कर उनमें से कुछ नया खोज सकने की तटस्थता प्राप्त की है, एक ऐसा अलगाव जिसके रहते कवि अपनी अनुभूतियों के कसते दायरों में एक पीड़ित गूँज बन कर न खो जाये। यहाँ नयी कविता के कवि से शिवकुटीलाल की कविता का फर्क स्पष्ट है। नयी कविता का कवि अपने अनुभूति-केन्द्र में रहकर बाहर पर दृष्टिपात करता था और अपने लिए भीतर बाहर सम्बन्ध की रागात्मक प्रणालियों को नियमित करता था। शिवकुटीलाल इसके विपरीत अपने अनुभूति केन्द्र से बाहर वस्तुबोध की जमीन पर आते हैं और वहीं से उस केन्द्र को आँकते और तौलते हैं। पर तौलने के जो बाट वे काम में लाते हैं वह उन्होंने खुद नहीं निर्मित किये। वे नयी कविता के ही बाट हैं। कविता का अन्त अनुशासन नयी कविता का एक प्रमुख बाट (मूल्य) है। यह अन्त.काव्यानुशासन शिवकुटीलाल वर्मा को अपनी बीहड़ और अराजक अनुभूतियों को कसने के लिए जरूरी लगता है। उनकी विडम्बना किन्तु यह है कि अनुशासन में ज्यादा कसने पर उनके भावयंत्र के टूट जाने का खतरा

रहता है और न बसने पर अनुभूतियो के बिखर जाने का। शिवकुटीलाल की कविताओ मे दोनो ही तरह के खतरो के निशान मिलते है।

वे यह बराबर महसूस करते हैं कि रचना से इतर उनकी अनुभूतियाँ एक जेलखाना है। उनका जीवन-सघर्ष, उस सघर्ष मे मिली हारें और चोटें, परिवेश का दबाव और उस दबाव म निजत्व की टूटनें और दरारें—ये सब उस जेलखाने की सलाखें हैं। कवि यदि इस जेलखाने से उबरना चाहता है तो उसे इनसे पलायन नही, इन्हे एक ऐसे रचना-ससार म रूपान्तरित करना होगा जहाँ वे सलाखें मानव-सत्य की विविध अर्थ-छवियो मे ढल जायें। यह तर्क शिवकुटीलाल वर्मा को कविता के स्वायत्त ससार की ओर ले जाता है। पर वे कविता की उन कठिन शर्तों का पालन नही कर पाते जो जीवन को रचना के अटूट, अखड और नीरन्ध्र रिश्ते के सातत्य म बाँध लेना चाहती है। इस प्रकार भीतर और बाहर की दुहरी प्रक्रिया के खिंचाव में शिवकुटीलाल की कविता विस्थापित हो जाती है। अपने आप से विस्थापित होने की यह मार्मिक स्थिति उनके सग्रह की नदी कविता मे सशक्त ढग से व्यक्त हुई है। यह कविता उनकी उन सफल कविताओ मे से है जो कथ्य को भाषा-सवेदना के भीतर से लडते-भिडते मुजिस्सम तौर पर निकाल ले आती है। कविता यों है—

किसी पागल कुत्ते की कटी हुई
जबान सी सुबह
या दिवास्वप्नो की जिन्दगी पर
टका हुआ एक खूबसूरत मजाक है
कि बीते हुए कल म
शाम की वमन की हुई शबनम को सूँघता
(कतल किया जाने को)
निठल्ला एक ख्वाब
इधर-उधर भटकता रहा।
कुत्ते ले जाने की गाडी
वह सीखचेदार रात आई।
हर थकी भटकन को एक पनाह!
हर भूखे भ्रम को पुचकारती सी एक छाँह!
पर ख्वाब वह खुशी से चीखा नही
गाडी के भीतर जा सहमा सा खडा रहा।
सींखचो क भीतर से कैदी का सिर
लुभावने दृश्यो पर हिलता रहा।
सीखचेवाली गाडी हर मानस के
सीमित धरातल पर दौडी।
हर जूठी रोटी,

हर चुसी हुई हड्डी
साक्षी रहे
भ्रम के प्रति
इस समर्पण की
कि वह दृश्य-जगत से उत्पन्न सहानुभूतियाँ थी
जिनकी भवर मे
गाडी वह डूब गयी।
यतीम स्वीकृतियाँ
बेहोश ख्वाब के
मरने तक सिसकती रही।
उस सच्चाई की तारीकी से
कटा हुआ
एक बेजान लम्हा!
यह सुबह!
अमृत पानेवालो
खुश हो
कि अब एक पागल कुत्ता मर चुका है

पागल कुत्ते की कटी हुई जबान-सी सुबह सच्चाई की तारीकी से कट हुआ एक बेजान लम्हा बन जाती है। क्या खूब कि जो ख्वाब था, 'दिवास्वप्न' था वही असली हकीकत थी क्योकि उसी मे कवि और उसका सघर्ष और करुणा जीवित थी, पर जब वह 'ख्वाब' सच बना तब वह वाकई पराया हो गया, एक दुस्वप्न, एक यतीमियत, एक मौत मे बदल गया। 'ख्वाब' की रेखाएँ स्पष्ट हैं, उसके एक-एक रग मे यथार्थ का खून बोलता है, वह किस कदर कवि सम्वेदना की पकड मे है कि कवि उसे साक्षात् अपनी अनुभूतियो के मच पर एक नाटक की तरह रख सकता है। पहले वर्तमान का एक छोटा सा स्नैप चित्र, फिर फ्लैशबैक 'बीते हुए कल मे', जहाँ वही निठल्ला 'ख्वाब' सुबह के भूले की तरह शाम को भटकता हुआ दिखायी देता है कि तभी रात की सीखचे-दार गाडी मे कैदी की तरह पकड लिया जाता है। क्यो ? इसलिए कि वह 'पागल था, बाह्य अनुशासनबद्ध व्यवस्था के लिए एक खतरनाक चीज। यहाँ सग्रह की अन्तिम कविता की य पक्तियाँ अनायास याद आती हैं—'मनुष्यता की रक्षा के लिए जब से/ फाँसी की सजा समाप्त कर दी गयी/तब से हर असभ्य या बगावत भरे विचार को/ इसी प्रकार अनुशासित किया जाता है।' 'ख्वाब की जगह विचार'—यह भी मार्क और करने की बात है। यह व्यवस्था कवि की अनुभूति के बाहर कोई मूर्त्त सत्ता नही है। वह ख्वाब भी क्या है ? जीवन को अपने ढर्रे मे जीने का एक बेलौस स्वच्छद विचार या भाव-तरग। पर यह उस नियम आश्रित व्यवस्था को असह्य है। ख्वाब अराजक है, जबकि अनुभूति के बाहर का यथार्थ एक साँचा, जिसमे वह ख्वाब एक विद्रोही-बिम्ब की तरह

फिट नही बैठता । इस म 'पर ख्वाब वह खुशी से चीखा नहीं' की अनायास आयरनी मर्म पर सीधे बैठती है । 'सींखचों के भीतर से कैदी का सिर/लुभावने दृश्यों पर हिलता रहा' में एक मासूमियत है—यथार्थ की रात म सोये हुए एक ख्वाब की मासूमियत—जो लुभावने दृश्य पर सिर हिलाते रहने की चाक्षुष संवेदनशीलता से आपके लिए एकदम सजीव और सवद्य हो उठती है । उस ख्वाब के भेष म उस मासूमियत को जैसे आप छूने लगे हों, सह-अनुभूति की एक भनभनाहट के साथ—जैसे सीखचेदार गाडी के पहिये आपकी चेतना क धरातल पर खडखड कर दौड पडे हो । उस यथार्थ का चेहरा 'हर जूठी रोटी/हर चुसी हुई हड्डी' में सामने आता है, नही चेहरा नहीं, उस चेहरे पर के दाँत—रात की तारीकी म एक व्यग्य की तरह चमकते हुए । इसके ठीक बाद की पक्तियो म ख्वाब का यह नाटकीय-अतीत एक निरीह समर्पण मे समाप्त हो जाता है— 'यतीम स्वीकृतियों/बेहोश ख्वाब के / मरने तक सिसकती रही' । हम पुन वर्तमान म वापस आते है और पीछे जैसे कुछ छोड कर आते हैं । अब उस करुणा के बाहर एक व्यग्य है, एक खूबसूरत मजाक, पर वह किस पर है ? शायद अपने आप पर, अपनी निष्कवच सवेदना पर, जो अपने को कही रोप नही पाती, न भीतर न बाहर । और कविता की आयरनी ? शायद यह कि यह निष्कवच सवेदना एक पागल कुत्ते की तरह मर कर भी मर नही सकती ।

शिवकुटीलाल वर्मा म गुस्सा नही है, अगर होता तो वे अपनी विस्थापित चेतना की साँसत से मुक्त हो सकते । भीतर-बाहर की सन्धि पर न बैठे रह सकते । बाहर के सघर्ष जगत से अपनी सवेदना का रिश्ता कायम करके भी बार-बार भीतर कविता के स्वायत्त-ससार की शरण म न जाते । भीतर जहाँ 'दबावों की भाषा' है, 'तनावों की भाषा' है, पर आक्रोश की भाषा नही । आक्रोश शिवकुटीलाल के भीतर-बाहर के यथार्थ-भेद को नष्ट कर सकता है और ऐसा करने मे उनके उस सवेदन-यन्त्र को भी नष्ट कर सकता है जो वस्तुस्थिति की जटिलता का मर्म सपाटबयानी म नही केवल सकेतो की लिपि मे ही खोलता है । यथार्थ का यह जटिल बोध शिवकुटीलाल को ठस नहीं बनाता, बल्कि उनमे आत्मव्यग्य की एक ऐसी क्षमता पैदा करता है जिससे कवि न खुद को बख्शता है, न दूसरो को ।—'कीडे लगे चुटकलों के बीच/वह मुझे टुघलाता रहा/असमाप्त कथा वस्तुओं अर्धजीवित पात्रों के बीच/ढूँढ ढूँढ/वह अकारण ही मुझ पर तरस खाने लगा । / मुझे जरा अजब लगा । तो मैं उस छलने लगा ! / जितना ही वह हँसता, मुस्कराता/उतना ही मै गिराता !' यदि शिवकुटीलाल यथार्थ-बोध के सामने अक्सर अपने को छीलने लगते हैं तो इसलिए कि अपने को ज्यादा पैना बना सकें, ताकि उस यथार्थ से ज्यादा कारगर तरीके स मुठभेड कर सकें । इस मुठभेड को वे कविता के बाहर ल जाना चाहते हैं और वही अपनी लडाई लडना चाहते है । पर उनके सघर्ष का हथियार आदतन बिम्ब रहा है जो उन्हे जबरन वस्तु सवदन की आन्तरिकता की तरफ ले जाता है जहाँ लडाई की सिर्फ धमक होती है, लडाई का प्रकट जुझारूपन नही । इस तरह शिवकुटीलाल वर्मा के बिम्ब ऐसे लडाकू बिम्ब बन कर रह जाते हैं जो दुश्मन

पर चोट पहुँचाने से ज्यादा खुद कवि के मर्म पर ही आक्रमण करने लगते हैं। शायद इसी-लिए उनके आत्मव्यंग्य का पर्यवसान आत्मकरुणा में होता है।

बिम्ब की इस आन्तरिकता के बाहर जाने की कोशिश भी शिवकुटीलाल में है। अपनी कुछ कविताओं में व्यंग्य का मुँह उन्होंने बाहर मोड़ने की चेष्टा की है। उस व्यंग्य की नोक पर एक नयी वैचारिकता है और उसका लक्ष्य वर्तमान विसंगतियों को उघाड़ना है, एक ठण्डे आवेश में वस्तुस्थिति की अमानवीयता को चिन्दी-चिन्दी करना है। इस दृष्टि से प्रस्तुत संग्रह की दसवीं कविता द्रष्टव्य है, गोकि इसमें भी बीच-बीच में वे बिम्ब की आन्तरिकता का मोह से बच नहीं सके हैं—'वह देखो! / कटे हुए नाखून की तरह चाँद आसमान के गले में लटका है/उसकी रंगीली रोशनी में/दूर कहीं तालाब के पानी में/खरगोश की उजली सफेद ग्लास की भाँति/तुम्हारे तड़फड़ाते, छटपटाते सपने तैर रहे हैं।' व्यंग्य की वैचारिकता शिवकुटीलाल का एक ज्यादा सूक्ष्म हथियार है अपनी असुरक्षा और बाहरी संकट से जूझने का। इस बात के संकेत उनकी कविताओं में हैं कि वे बिम्ब चिन्तन की अन्दरूनी भूलभुलैया से बाहर निकल कर भाषा के शब्दधर्मी और वस्तुधर्मी रूप के खुलेपन के निकट आ रहे हैं। यह स्थिति उन्हें नयी कविता के आगे ले जाती है। यह वैचारिकता उन्हें अपनी काव्य-संवेदना की हृदा को फिर से परि-भाषित करने को उकसा रही है। वे अपने भावनात्मक स्वभाव पर इस वैचारिकता की नयी धार चढ़ाने को उत्सुक हैं। बिम्ब कविता में उनकी समस्या भाषा में अनुभूतियों का रचनात्मक उन्मोचन प्राप्त करने की थी, अब इस विचार-कविता में उनकी समस्या-विचार को जीवन-ऊर्जा से जोड़ने की—अपने जीव-बोध को एक नये वैचारिक रिदम में बाँधने की—हो गयी है। भाव-ऊर्जा ने उनकी कविता में गाँठें पैदा की थीं, विचार ऊर्जा उन गाँठों को पिघलाकर उनके जीवन-बोध को एक दिशा दे सकती है। पर कहाँ है वह विचार-ऊर्जा? वह अभी भी भाव ऊर्जा की सन्धियों में से रिस रही है। कवि उसे बूँद-बूँद एकत्र कर रहा है और प्रतीक्षा में है।

पर जैसे कहीं कुछ ऐसा बंध गया जो खुलता नहीं। समय के भागते जाने का अहसास है और यह अहसास उस समय को लेकर एक जगह रुक गया है। शिवकुटीलाल वर्मा की काव्य-संवेदना में एक खरापन है, एक बेलौस ईमानदारी, पर लोच नहीं है। उनकी हर कविता, चाहे वह भाव-बिम्ब या विचार बिम्ब की हो, एक ही दुखते राग को कभी आधी जबान से, कभी मूक रह कर, कभी मुँह खोलकर बजाती है। इसलिए परि-वर्तनगामी होने के बावजूद शिवकुटीलाल की ये कविताएँ मार्मिक रूप से कहीं पीछे छूट गयी लगती हैं।—

हर शाम घर लौटने पर पत्नी से पूछता हूँ
मेरा कोई पत्र?
और उत्तर पाता हूँ 'नहीं'
हर शाम अपने आप से सवाल करता हूँ
कोई नया अनुभव?

और उत्तर पाता हूँ 'नहीं'
दो चार साल बाद
एक ठेले पर सारी गृहस्थी लाद कर
जबरन एक चहारदीवारी से निकलकर
दूसरी चहारदीवारी में प्रवेश करता हूँ
और एक नये संक्रमण की प्रवचना में
कुछ समय को डूब जाता हूँ

सोमदत्त इस तरह की किसी सासत में नहीं है। ये खुल्लमखुल्ला बाहर हैं—मैदान में, जहाँ न किसी साहित्यिक वृक्ष की छाया है, न किसी अदृश्य रहस्य की आड़। उनके यहाँ सब कुछ स्पष्ट है, जलती हुई धूप की तरह, तपती हुई जमीन की तरह। अपनी स्थिति इन शब्दों में व यों बयान करते हैं—'मैं / जंगल के उजड़ने / और शहर के बसने / यों अर्थ के खोने और पाने के / बीच का / प्रयंच्युत / आतंकित / मैदान आदमी हूँ।' इस तरह सोमदत्त न तो जंगल के नाना रूप-रस-ध्वनि वाले आदिम संवेगों की जटिलता से पीड़ित हैं (जैसे कि धूमिल रहे हैं) न शहर ही उनके लिए संभावना है। उनके यहाँ अतीत और भविष्य दोनों ही अप्रासंगिक हैं, वे सिर्फ वर्तमान में जीते हैं। जाहिर है कि सोमदत्त तक आते-आते कविता का ध्रुवीकरण हो गया है—कविता साफ-साफ भीतर और बाहर के खेमों में बँट गयी है। भीतर स्मृति है, इतिहास है, संस्कार है। बाहर चुनौती है, खतरा है, युद्ध है। बाहर रहने के कई फायदे हैं। वहाँ कोई सीमा नहीं जहाँ अटक जाना पड़े। अगर आपकी आँखें खुली हैं तो सब कुछ आपकी निगाह के सामने है। वहाँ अनुभूति के अन्तर्विरोधों में फँस कर एक जगह ठिठक जाने का खतरा नहीं। कोई अवरोध नहीं जिसे फलाँगना पड़े। सब कुछ सपाट है। वहाँ हर समय बहुत कुछ घटित होता रहता है, अतः सतह की एक सनसनी हमेशा मौजूद रहती है। खबरें बनती हैं, मिटती हैं। और आज की ताजा खबर क्या है? एक 'कुर्सीनुमा संसार' में 'मौकापरस्त पालिसी' के तहत आदमी का चौपाये में बदल जाना। यह आदमीरूपी चौपाया कभी तो 'चौपायी व्यवस्था का / पट्टी बंधा बैल' होता है और कभी भेड़िया या लकड़बग्घा, कभी उसका भेजा अपनी ही जमात को काटते हुए कुत्ते का होता है, तो कभी वह गिद्ध सा गोश्त चोथता नजर आता है और कभी 'खतरे के आभास से / कछुए की तरह / पेट के कवच में' छिपता हुआ। उसकी आत्मा कभी तो 'दब्बू हो गई है टुकड़खोर / बिलार-सी' *और कभी वह 'विसखर, जोंकें और रक्तखोर जनाऊर' में तब्दील* हो कर कुर्सियों में, अदालत की पोथियों में और कभी 'कुरतों, टोपियों की सँध में / नेवले और साँप' की तरह चिपका होता है। चरित्र की गिरावट का यह हाल है कि आदमी तो आदमी प्रकृति के फूल पत्ते तक मगरमच्छ और छिपकली की शक्ल में बदल दिखायी देते हैं, रोशनी केंकड़े की तरह जमीन खोदती है और शब्द चालू हैं। इस चौतरफा अव-

मूल्यन के केन्द्र मे ही है सोमदत्त की कविता, कभी तेज और कभी मन्द बुदबुदाहट मे अवमूल्यन को झेलती हुई। सोमदत्त इस हद तक आत्मसजग नही है कि इस अवमूल्यन की जड मे जायें और उन बुनियादी सवालो और परिस्थितियो से टकराएँ जो आदमी को जानवर बनाने की जिम्मेदार हैं। वे सतह के कवि हैं, जो जैसा देखते हैं लिखते है। उनके देखने मे पर्याप्त पैनापन है, निर्ममता है, ईमानदारी भी है। पर उनका लिखा ज्यादातर एक प्रभावशाली रिपोर्ताज लगता है काव्याभास देता हुआ, कविता कम।

उनकी आन्तरिकता सिर्फ मैं बोध तक महदूद है—सोमदत्त जानना चाहते हैं कि इस बिगडे हुए वक्त मे जहाँ आदमी के चरित्र की / तासीर / बदल लेना / कितना आसान है' वह खुद क्या है ? उनकी सवृत्तियाँ क्या हैं ? उनके लगाव और उलझाव क्या हैं ? उनके चारो ओर जो कुछ घटित हो रहा है उसमे उनकी अपनी भूमिका क्या है ? किन्तु ये प्रश्न बिना किसी रचनात्मक चुनौती का सामना किये उठते है और बुझ जाते है। इन प्रश्नो को पकड कर सच्चाई के किसी गहरे तल मे प्रवेश कर पाने की उत्सुकता या अकुलाहट उनमे नहीं है। उन्हे केवल इस बात का सन्तोष है कि 'मैं/इस तमाम नाटक का/ पात्र रह चुका हूँ।' पर हकीकत यह है उस नाटक मे 'मैं' की भूमिका एक अभिनेता की नही, एक दर्शक की है। व्यवस्था के 'बबुए जगल' मे फँसा एक व्यक्ति जिसका व्यवस्था अपने पक्ष मे इस्तेमाल कर फेंक देती है। सोमदत्त की कविता का मुख्य कथ्य यही है। इस कथ्य को वह कविता एव नाटक की तरह पेश करती है और सोमदत्त का 'मैं' इस नाटक मे बिना कोई प्रतिरोध किये 'खामोशी और अंधेपन' के बीच एक दमित व्यग्य को पीता सब कुछ देखता रहता है।

यह नाटक चेतना की किसी भीतरी पर्त पर बिम्ब और प्रतीक की जटिल सश्लिष्टता लिए हुए नही घटित होता। यह नाटक बिना किसी मच सज्जा अथवा 'प्रकाश व्यवस्था' के गाँव या कस्बे मे प्राय एक नुक्कड नाटक के रूप मे घटित होता है। मन स्थितियाँ नहो, सिर्फ स्थिति ! इस नाटक मे आमने-सामने होती हैं। यह नाटक कभी एकालाप मे और कभी सवाद मे होता है। सोमदत्त इस नाटक को सटीक ब्यौरो के साथ, नाटक की मूल आवश्यकता के अनुकूल मुहावरो और बोलचाल की भाषा मे प्रस्तुत करते हैं। उनके सग्रह 'रेल बोगदे मे' तीसवी कविता के कुछ अश

आपने तो भलमनसाहत से
दिया था पद्रा अगस्त
तिरगा झण्डा और एक गीत
आपने तो
यहाँ तक कि भला भी चाहा था
चाभी देकर आपने सरेआम कह दिया था, कि
ताला खोल लेना
घर मे रहना और देखना चमत्कार
... ...

भूमि भोगने का गूदा
धेले भर भी
हममे नही रहा,
वीर होते तो आपकी तरह न जोत लेते
रातो रात
पद्म अगम्त
... .
वे जगल छोड शहरो मे बस गये
बोलचाल ढब-ढौरा सीख लिया
राजकाज की दुकान चलाने लगे
उनके मुंह में लगे खून का, आप
क्या करें
उनके दात उखाडने के लिए
आप क्या अपने हाथ कटवाएँगे।
राम कहो!

एक दूसरी कविता की ये पक्तियाँ देखिए—'उसने / फटे दूध की दही सी हँसी / बिलोते हुए कहा / दादू भइया / आप नाम से और हम / महक से / माटी पहचानते हैं / अक्किल और भैंस / बराबर हो चाहे हमारे लिए / हम मालूम है / अन्त हर किस्से का / फौज फाटे म चाहे करोडो रह / तिलिस्म सदा/ राजा के बेटे से टूटा है।' इस तरह के मैदानी नाटक म जाहिर है सर्जनात्मक तनाव, मुठभेड या अन्तर्द्वन्द की खास गुजाइश नही होती। पर इसका व्यग्य भी सिर्फ हल्की-सी खरोच पैदा करके रह जाता है। इसका आशय इतना स्पष्ट होता है कि काव्यात्मक प्रभाव की दृष्टि से सपाट लगने लगता है। इसका कारण यह है कि सोमदत्त के पास अनुभव के प्रामाणिक ब्यौरे और स्थितियाँ तो हैं, पर उन्हें रचना म एक उत्तेजक अर्थ सृष्टि के रूप म गूँथने वाली दृष्टि नही। कही कही उनकी अभिव्यक्ति प्रभावशाली सूत्रा और उक्तियो मे इस प्रकार होती है—'हर एक की जेब मे है आँखो का / उतरा हुआ पानी / हर एक के दिमाग म है अपने नाम का/किताब भर मोटा / मानी।' कभी अनुभव का सारा निचोड कुछ थोडे से शब्दो मे यो व्यक्त होता है—'पानी आग चाहिए / दरख्तकद मकानकद / आदमकद उजाले के लिए।' यह सब सोमदत्त की अनुभव-प्रौढता का ही सकेत करते हैं। असली दिक्कत तब शुरू होती है जब सोमदत्त इस अनुभव की कविता बनाने चलते हैं। उनका जाना बूझा सोचा-समझा यथार्थ उनकी रचना के बाहर ही पडा रह जाता है, और जब कभी वह भीतर आता भी है तो मन की एक 'भडास' और अकबकाहट' 'बनकर, शब्दो के एक फालतू ढेर के साथ।

तो क्या सपूर्ण बाहर आने की यही नियति है? गडबडी शायद बाहर आने मे नहीं, अपने साथ भीतर का कुछ न लेकर आने मे भी नही, बल्कि बाहर आकर बाहर से पूरी गहराई और लपक, विविधता और विस्तार से जुड न पाने— इस जुडने के लिए

हाथ पर न हिलाने—मे है। सोमदत्त मे न कहीं से आने का सक्रमण है न कहीं जाने की गति। अपने वर्तमान मे वे कविता-रचना की उन्मुक्त सभावनाओ से नही, बोगदे (सुरग) मे खडी रेल के अँधेरे से घिरे हैं। उनके कविता-सग्रह को पढ कर अगर नसीहत मिलती है तो यही कि केवल बाहर आ जाना ही काफी नही। बाहर आना सपाट हो जाना नही है क्योकि सपाट हो जाना रचना मे बाहर की सभावनाओ का पराजित हो जाना, अवमूल्यित हो जाना है। बाहर आना दरअसल एक नए वस्तुबोध में मानव-सघर्ष और मानवगरिमा को अर्थान्तरित करने का अवसर पाना है। एक नयी गहराई का उदय—वहाँ बाहर—व्यक्ति और वस्तु के नए सम्बन्ध-बोध मे बीज-रूप मे निहित है। यह सम्बन्ध-बोध उस पुराने कलावाद के बाहर है जिस पर शीत-युद्ध की छाया थी। कला के भीतर के इस शीत युद्ध मे व्यक्ति अपने ही दो टुकडे कर उन्हे एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे—अपनी अनुभूतियो की जमीन पर—स्थापित करता था और उनकी लडाई को, उस लडाई से छिटकने वाली चिनगारी को अपनी सवेदना की ढाल पर झेलता था। जो झिल जाता था वह रचना का सत्य होता था, जो नहीं झिल पाता था वह रचना से बहिष्कृत कच्चा माल। बाहर आना कला के इस आत्मयुद्ध के बाहर उस वृहत्तर युद्ध म शामिल होना है जो आज अधिक मूर्त भौतिक शक्तियो के बीच लडा जा रहा है, मनुष्य के अस्तित्व की जमीन पर। यह भीतर के बरक्स बाहर का नया अस्तित्ववाद है।

नयी कविता की मानसिकता से अलगाव के क्रम मे जहाँ तक हम पहुँच चुके हैं वहाँ बाहर की सर्जनात्मकता को उदाहृत करने के लिए विनोद कुमार शुक्ल की कविताओ को होना चाहिए था। विष्णु नागर की कविताएं उस सर्जनात्मकता के प्रवेश-द्वार पर सिर्फ दस्तक देती है। उनमे वह नया वस्तुबोध है जो चीजो और स्थितियों के पूर्व निर्धारित सम्बन्धों को तोडकर एक नए पैटर्न मे रखता है। जो लोग कविता का हर पैटर्न अनुभूति के दबाव की भाषा मे ही समझने के आदी हैं उनको यह नया पैटर्न पहेली लग सकता है। ऐसे लोगो को हमेशा यही भय लगा रहता है कि कहीं कविता से अनुभूति उड न जाय, अनुभूति जिसको वे शब्दो मे हाथ से छू सकें, जबान मे चख सकें, नाक से सूँघ सकें। वास्तविकता किन्तु यह है कि अब अनुभूति को शब्दो मे आँख से देखने, अन्तर्विवेक से जानने और कर्म से पहचानने का युग है। अनुभूति का काव्यशास्त्र एक दलदल बन चुका है और बाहर के अस्तित्ववाद की चुनौतियो स निपटने के लिए नाकाफी हो चुका है। इधर विष्णु नागर भी जब 'मैं फिर कहता हूँ चिडिया' कहते हैं तब वे अनुभूति को बिलकुल उडा नही दे रहे होते हैं, बल्कि उसके लिए बाहर एक नया नीड बना रहे होते हैं। बाहर की सर्जनात्मकता दरअसल अनुभूति का नही, अनुभूति के काव्यशास्त्र की सकीर्ण दृष्टि का बहिष्कार करती है।

यह एक अजीब बात है आज की बहुत-सी जनवादी या प्रतिबद्धतावादी कविताएँ भी जनता से जुडने के नाम पर परोक्ष रूप से इस अनुभूति के काव्यशास्त्र को ही बल

प्रदान करती हैं। वे समकालीन यथार्थ की अनिवार्य चेतना से सम्बद्ध होने के बावजूद प्राप्त अनुभूत-सामग्री की न तो छानबीन और विश्लेषण करती हैं ताकि उनके मूल उत्सो की शक्ति को आँक कर उन्हे अधिक कारगर तथा जुझारू तरीके से रचना मे समायोजित *किया जा सके, न उनमे वर्तमान की सतह पर नियारत उन परस्पर विरोधी ऐतिहासिक* शक्तियो के द्वन्द्वात्मक तनावो और उनकी टूटन की पहचान ही है जिनके भीतर से रचना का क्रान्तिकारी अर्थ एवं विकल्प की तरह पैदा होता है। वे 'जनवादी' कविताएँ क्रान्तिकारी अनुभव और सर्जनात्मक कर्म के बीच की खाई को एक जज्बे से भर देती हैं और यह जज्बा मनुष्य के सुख दुख, सघर्ष और आकांक्षा मे कवि के भागीदार होने का सबूत मान लिया जाता है। जनता से जुड़ने का जज्बा जनता मे जुड़ने का पर्याय बन जाता है। इस जज्बे के जुड़ने मे *प्रयोग और निर्णय की अग्निपरीक्षाएँ, उनका ताप और ओज और* सर्जनात्मक उछाल और मानव कर्म तथा मानव निष्ठा को निर्मित करने वाले असख्य छोटे छोटे सन्दर्भ और ब्यौरे और रूप-रग नही होते, बल्कि एक किस्म की अमूर्तता होती है। इस अमूर्तता को जब शब्दो मे रेटारिक का जामा पहनाया जाता है तब अक्सर वह वाग्-स्फीति और कभी-कभी नारे की शक्ल म सामने आता है। जिस व्यवस्था के खिलाफ कविता की लडाई ठनी हुई है उसमे यह अमूर्त जज्बावाद न सिर्फ आज की बदली हुई *कविता के लिए नुकसानदेह है, बल्कि उस लडाई के लिए भी अहितकर है जिसमे हिस्सा* लेना प्रकटत जनवादी कविता का उद्देश्य है।

विष्णु नागर की कविताओ की उम्र अभी इतनी कम है कि उनसे उस लड़ाई के समूचे सन्दर्भ और उसकी जटिल प्रक्रियाओ को फलवान की माँग करना (और इस माँग को पूरा होते न देखकर निराश हो जाना) मुनासिब नही है। कलावाद की स्मृति स रहित और अनुभूतिवाद के दलदल से सुरक्षित विष्णु नागर की सवेदना अपनी सहजता मे उस *तरह की रचना के लिए उन्मुख है जो व्यक्ति और परिवेश का एक बदला हुआ सम्बन्ध* बनाना चाहती है। उनकी कविताएँ इस दिशा मे अभी पेंसिल-खिंची रेखाओ के समान हैं, मन पर उस बदलाव का हल्का सा प्रभाव छोड़ती हुई, आनेवाली काव्य दिशा की आहट सुनती हुई। मेरी इस प्रतीति का आधार उनके सग्रह 'मैं फिर कहता हूँ चिड़िया' की वे तीन-चार कविताएँ हैं जो इतनी छोटी हैं कि उन्हें यहाँ विचारार्थ पूरा उद्धृत किया जा सकता है। उनकी बाकी कविताएँ अधिकांशत क्षणिकाएँ ही हैं, कुछ मे बदले हुए तेवर का सिर्फ रफ है और कुछ मे नौसिखुए अन्दाज की भोली शरारतें मात्र।

१ पाँच बड़े-बड़े, बड़े-बड़े दल
गौर फरमाएँ, पाँच बड़े-बड़े दल
एक हो जाएँ
तो राधिके
अपन स्तन हिलाओ और देखो
पाँच बड़े-बड़े दलो की निगाह
तुम्हारे स्तन पर है या और कही ?

स्तन पर है
तब रावियो तुम कहो
राजनीति बड़ी गन्दी है
इसलिए मैं कविता लिखती हूँ।
भाषा है मेरा अस्त्र
और मुझे अपने स्तन बचाने हैं।

२. पाठक जी, पाठक जी हैं, कविता नहीं है
कविता, कविता है, पाठक जी नहीं हैं
यह अलग बात है
कि पाठक जी लड़खड़ा कर गिरे, तो कविता पर ही
और कविता पिचक कर पाठक जी की हो गई।

३. कविताएँ मेरी विवस्त्र थीं इस ठण्ड में
वे कविताओं के बजाय मनुष्य हो सकती हैं
मौत की खबरों में चुपचाप शामिल
बल्कि उसमें भी छूटी हुई।

४. झटपट कहा
कपड़े बदल
राजा की सवारी आएगी।
कान बन्द रख
आँखें खोल
राजा भाषण करेंगे।
फुर्ती से उठ
धूल झाड़
राजा प्रस्थान करेंगे।
मत्थे कह
राजा अच्छा बोले।

पहली तीन कविताओं में कविता का जिक्र आया है, लेकिन जो अर्थ विष्णु नागर ने इस कविता शब्द से सम्प्रेषित करना चाहा है वह कविता के अलावा कुछ और है। तीसरी कविता में एक संकेत है कि कविता मनुष्य है या वह मनुष्य भी हो सकती है। लेकिन मनुष्य के साथ कविता का यह एकात्म किसी भावनात्मक स्पन्दन से लिपटा हुआ नहीं है। अगर कविता मनुष्य के साथ है तो एसा वह एक स्वतन्त्र सत्ता को हैसियत से है।

कविता का मनुष्य साथ दे इसके लिए जाहिर है कि पहले वह मनुष्य से अलग कोई इकाई हो, एक सर्वप्रभुता सम्पन्न इकाई, तभी वह मनुष्य के संघर्षों में उसका साथ दे सकती है। इसी को विष्णु नागर या कहते हैं—'पाठक जी पाठक हैं, कविता नहीं है / कविता कविता है, पाठक जी नहीं हैं।' यह कविता है क्या ? मनुष्य की सर्जनात्मकता ? कविता के बाहर की पल पल घटित होती हुई मानवीय सच्चाई, जो कविता के बावजूद है और जिस सामर्थ्य भर हर कवि कविता के भीतर ले आता है ? या कला का एक छल, यथार्थ से साक्षात्कार से बचने के लिए ('राजनीति बड़ी गन्दी है / इसलिए मैं कविता लिखती हूँ / भाषा है मेरा अस्त्र / और मुझे अपने स्तन बचाने हैं।') ? मनुष्य एक स्थिति भी है और एक संभावना भी। कविता मनुष्य की स्थिति में भी है और उससे छूटकर उसकी संभावना में भी। वह मनुष्य के होने की खबर में भी है और उस खबर में कहीं छूटी हुई भी है। वह एक जगह बँधी हुई नहीं है, क्योंकि वह शब्दों में नहीं है, शब्द और शब्द के बीच के अन्तराल में है जिसकी पदचाप कवि सुनता है। और वह मनुष्य भी कविता में नहीं कविता के बाहर है जिससे कवि 'मुँहजोरी' करता है। यह मनुष्य और कविता का एक नया सम्बन्ध है, जिसमें दोनों एक दूसरे की जड़ता (स्थिति) से नहीं, एक दूसरे की गतिशीलता (संभावना) से जुड़े होते हैं। यह सम्बन्ध गड़बड़ाता तब है जब कविता और मनुष्य एक दूसरे को रचनात्मक कर्म की चुनौती देने के बजाय एक दूसरे का इस्तेमाल करने लगते हैं। जब वे रचनात्मक तनाव के सह-सम्बन्ध में न रहकर एक दूसरे पर हावी होने लगते हैं। तब होता यह है कि 'पाठक जी लड़खड़ाकर गिरे तो कविता पर ही / और कविता पिचक कर पाठक जी की हो गई।' कविता का अर्थ कविता के होने की द्वन्द्वात्मक शर्त में है यह शर्त भंग होने पर कविता भावना में लतपथ (पिचपिची) या विचार के सरलीकरण में सपाट (पिचकी) हो जाती है।

चौथी कविता में कविता के बाहर की सच्चाई का एक खाका है। एक व्यंग्य है, क्योंकि एक तटस्थता है जिसके तहत उस सच्चाई को कवि बड़ी सफाई से अपने परिवेश से चुनकर उठाता है और उसमें बिना लिथड़े या उसका सरलीकरण किये उसे कविता और आज के सर्वहारा मनुष्य के तनावपूर्ण सम्बन्ध के बीच रख देता है, अपनी तरफ से कोई कवि टिप्पणी दिये बगैर। इसमें एक जो अगम्भीरता है वह इसलिए कि कवि से कुछ छिपा नहीं रहा है कि अपने साथ कवि को भी लिये दिये कविता में लड़खड़ाकर गिर पड़े। कवि कविता में होते हुए भी उससे मुक्त है—ऐसा हल्का-फुल्कापन, जो कवि के संवेदन-यन्त्र को चुस्त और तैयार रखता है। यह मुस्तैदी पहली कविता के पद विन्यास में इस तरह है कि कथ्य को अर्धविराम के झटके देकर कहीं उस पर बलाघात देकर, तो कहीं उसकी एक नाटकीय मुद्रा उभार कर कविता के वर्णनात्मक ढाँचे को एक जैसा एक जगह पड़ा रहने नहीं दिया गया है, बल्कि उसे हरकत में डाला गया है। कविता का वास्तविक अर्थ उसके कथ्य में स्थिर नहीं, पद विन्यास की इन हरकतों में गतिशील है।

आज के समय में संघर्ष के यथार्थ को यदि नयी अर्थवत्ता प्रदान करनी है तो उस

इसी मुस्तैदी और चुस्त रचना-लाघव से पकड़ना होगा। अभी तक हमारे कवि यथार्थ को पकड़ कर रचना में गुरु गम्भीर पालथी मार कर बैठ जाते रहे हैं (ज्यादातर कविताओं के एकरस और ममूहवाची होने का यही राज है), कविता के भीतर वह यथार्थ धीमी-धीमी आँच में पकता रहा है और कवि के स्नायुओं को तेजाब की मानिन्द काटता और छीजता रहा है। इस पल-पल जीने और छीजने में ही रचना की नयी-नयी आकृतियाँ बनती-मिटती रही हैं। कविता के भीतर योग साधने का अपना प्रभामण्डल है और कविता-केन्द्रित रचना इस प्रभामण्डल के इर्द गिर्द घृणा-प्यार के तर्क से हमेशा मड़राती रहती है। धूमिल जैसे समर्थ जनवादी कवि तक इस प्रभामण्डल के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके हैं। संघर्ष की आग को कविता में बाँधने की उनकी सामर्थ्य को प्राय उनकी शक्ति माना जाता है, किन्तु दरअसल वह धूमिल की शक्ति नहीं, बल्कि उस संघर्ष का तिरस्कार है जो कविता के बाहर की कविता में है और जिसके होने का संकेत स्वयं धूमिल की कविताओं में ही मिलता है। कविता में जीवन संघर्ष को साथ साथ लिये चलना धूमिल के लिए उस संघर्ष को सह्य बना देने का एक उपक्रम बन जाता है, जबकि संघर्ष को अगर कारगर होना है तो उसे असह्य होना चाहिए। धूमिल की कविता में संघर्ष और क्रान्ति से हमारी चमड़ी छिलती नहीं, उल्टे हम उससे प्रेम करने लगते हैं। इस प्रभाव का कारण शायद यह है कि धूमिल रेटारिक में व्यक्त अपनी तमाम मानसिक फुर्ती और चौकन्नेपन के बावजूद इस कदर ऊभचूभ रूप से गम्भीर रह हैं कि कविता को संघर्ष का पर्याय मान बैठे हैं, जिसका परिणाम यह है कि कविता उनके लिए संघर्ष का अस्त्र बन जाती है ('कविता भाषा में आदमी होने की तमीज है')। इससे न सिर्फ कविता बल्कि वह संघर्ष भी नष्ट होता है। संघर्ष का काम कविता की तेजस्विता और सक्रियता को पैदा करना है, कविता से एकात्म हो जाना नहीं। संघर्ष कविता से एकात्म होकर अपना वास्तविक कर्म भूल न जाय इसके लिए कवि को गम्भीर रूप से अगम्भीर होना पड़ेगा। संघर्ष कवि को तपाए, झुलसाए, जलाए और एक नये मनुष्य में आकार दे, इसके लिए कवि को क्रान्तिकारी कविता के पास नहीं, क्रान्तिकारी संघर्ष के पास जाने की जरूरत है। तभी कविता का वह प्रभामण्डल टूटेगा।

[१९७५]

नया रचनाकार : अभिव्यक्ति की समस्या

आज कविता लिखना शुरू करते समय एक बिल्कुल नये कवि के आगे एक विचित्र सी स्थिति दिखाई पड़ती है। इस स्थिति की तुलना मनोविज्ञान के 'सीखने के पठार' से की जा सकती है। नयी कविता की विकास-यात्रा में एक ऊँची कठिन चढ़ाई चढ़ लेने के बाद इस एकरूप समतल 'पठार' में पहुँचकर नया कवि अनुभव करता है कि कविता में जिन चीजों को उपलब्ध करने के लिए किसी ज़माने में कई-कई पर्वत लाँघने पड़े थे, कई छोटी मोटी क्रान्तियाँ खड़ी करनी पड़ी थीं वे तो अब उसके लिए सहज ही सुलभ बन गई हैं। संवेदना का विस्तार एवं गहराई, बिना किसी साहित्यिक-राजनैतिक चश्मे के जीवन को देखने वाली मानवीय दृष्टि अभिव्यक्ति का संयम और लालित्य, काव्य-भाषा द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म जटिल संवेदनाओं को अंकित कर सकने की परिष्कृति — यह सब उसे विरासत में मिला हुआ है। पुराने रूढ़ प्रतीकों और बिम्बों से पिण्ड छूट चुका है और नितान्त वैयक्तिक संवेदन स्रोतों से नये बिम्ब तथा प्रतीक रचने की पूरी स्वतन्त्रता है, भाषा अधिक मुहावरेदार और बोलचाल के निकट है। उसे अब इस बात की स्मृति भी नहीं कि बच्चन की परम्परा में भवानीप्रसाद मिश्र से लेकर सर्वेश्वर तक की पीढ़ी को इसके लिए कितने विरोधों का सामना करना पड़ा है। यथार्थ के गहरे स्तरों का उद्‌घाटन हो रहा है और कवि केवल कविमात्र न रहकर विचारक भी हो गया है (यह बात पहले 'कवि' की पराजय समझी जाती थी)। संक्षेप में यह कि जो कुछ पहले आन्दोलनकारी समझा जाता था अब सहज स्वीकार्य है। किन्तु दुर्भाग्यवश यह स्थिति ही एक अवरोध एक जकड़ाव की स्थिति बन गई है और इस जकड़ाव में एक बिल्कुल नये कवि के साथ वे कवि भी घिर गए हैं जो नयी कविता की विकास-यात्रा में अलग-अलग दूरियों-पड़ावों पर सहयात्री रहे हैं।

इतना होने पर भी नयी कविता की यात्रा इस एकरूप समतल 'पठार' के बाद आगे रुकती दिखाई नहीं देती। इस 'पठार' से उबरने की जी-तोड़ कोशिशें चल रही हैं। इस 'पठार' से आगे कदम उठाने पर हम एक 'दलदल' मिलता है। नयी कविता को इस 'दलदल' से मुक्ति का रास्ता भले ही मिल गया हो लेकिन उसकी चेतना इस दलदल की स्मृति से पूर्णतः मुक्त नहीं दीखती। उसका भावी स्वरूप क्या होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह इस दलदल का समाधान किस रूप में करती है। आखिर यह 'दलदल' है क्या ?

वर्तमान युग-जीवन मे व्यापक स्तर पर घटित होने वाले यथार्थ के अनुभव की प्रतिक्रिया के स्पष्ट ही दो ध्रुव बन गए हैं, जिसका परिणाम है खण्डित सवेदनीयता। अत हम पाते हैं कि यथार्थ के अनुभूत-पक्ष और उसके चिन्तन-पक्ष मे एक गहरी खाई बन गई है। यथार्थ के अनुभव की इस ध्रुवाभिमुखता तथा उनके बीच परस्पर वैषम्य के अनेक रूपों के उदाहरण इधर की कविताओं मे देखने को मिल जाएँगे। ये दो ध्रुव एक साथ समानान्तर गतियो मे कवि-मानस को प्रभावित करते से लगते हैं। ऐसी स्थिति मे लिखी जाने वाली अधिकाश कविताएँ काव्य-अनुभूति का एक सम्पूर्ण सघटित प्रभाव नही उत्पन्न कर पाती। कभी-कभी ये दोनो एक मे गड्डमड्ड हो जाते हैं, तब कविता दुरूहता का एक अच्छा खासा नमूना बन जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि ये दोनो ध्रुव परस्पर एक दूसरे पर हावी होना चाहते है। ऐसी स्थिति मे या तो कविता अमूर्त्तन की ओर झुकती है या फिर एक आवेश-जनित बौखलाहट के रूप मे व्यक्त होती है। प्रत्येक स्थिति मे एक प्रकार का स्नायुविक तनाव कविता मे दिखाई पडता है।

आधुनिक विज्ञान ने ज्ञान तथा सवेदन के सभी क्षेत्रो-स्रोतो का इस हद तक विश्लेषण कर दिया है कि अब कोई चीज रहस्यमय नही लगती। अत कविता अब किसी प्रकार का भ्रम रच सकने मे असमर्थ हो गई है। बहुत अशो म इस तथ्य को सम्पूर्णत स्वीकार न करने के कारण नया कवि इस डाइलेमा से ग्रस्त दीखता है कि कविता अब भी उस 'भ्रम' की सृष्टि कर सकती है। ऊपर हमने जिस दुरूहता का उल्लेख किया वह वस्तुत इसी डाइलेमा का परिणाम है, और उस 'दलदल' के ही एक पक्ष को उजागर करता है।

दलदल' का एक और रूप नये कवि की उस चेष्टा मे भी व्यक्त होता है जब वह क्षण से उपजी अनुभूति मे अधिक से अधिक आयाम अन्वेषित करने अथवा उसमे भरने का आग्रह रखता है। यह नये कवि के उत्तरदायित्व-बोध, उसकी यथार्थ की जटिल परिस्थितियो के प्रति सजगता तथा अनुभूति-क्षेत्रो के विस्तार का सूचक अवश्य है, किन्तु यह उसे कविता के प्रति जिन रवैयो का निर्माण करने की ओर प्रेरित कर रहा है वह नयी कविता के विकास की दृष्टि से आशाजनक नही कहा जा सकता।

अनुभूति मे अधिकतम आयाम ढूँढने या भरने के कई तरीके हैं। एक है उसे इतिहास के अनुभव-स्रोतों से जोडना (इलियट का उदाहरण इस सन्दर्भ मे अब भी कवियो को ताजा लग सकता है)। दूसरा तरीका है स्मृति मे पुजीभूत सवेदनो, अनुभूति-खण्डो एव कल्पनाओं को जगाना। स्मृति का तत्त्व प्राय भाषा की रचना मे ही निहित होता है, क्योंकि भाषा अपने अर्थ एव ध्वनि सम्बन्धी विकास-नियमो की दलय गति के कारण स्मृति से पूर्णत कभी मुक्त नही हो पाती। इन तरीको से कविता मे अर्थ-गाभीर्य भले आता हो, अनुभूति का एक छोर सुदूर कालातीत अतीत का स्पर्श भले करने लगता हो, वर्तमान क्षण से उद्भूत सवेदना का स्मृति के सवेदनात्मक सन्दर्भों से नैरतर्य भले स्थापित हो जाता हो, किन्तु इससे वर्तमान-क्षण के यथार्थ का सही परिप्रेक्ष्य अवश्य घट-बढ जाता है। इसस यथार्थ के विकासमान स्वरूप को भाषा द्वारा सम्प्रेषित करने की

सभावना खत्म हो जाती है।

जब यह एक बार स्पष्ट हो जाय कि वर्तमान यथार्थ अनुभव को नया कवि न तो नये नये बिम्बों की रचना करके अभिव्यक्त कर पा रहा है, न मात्र अमूर्तन द्वारा, तब भाषा को ही काव्य की नयी सभावनाएँ विकसित करने का आधार बना लिए जाने का पक्ष सामने आता है। यद्यपि भाषा द्वारा अर्थ के नये सृजनात्मक आयामो का सम्प्रेषण मूलत अमूर्त्तन की ही क्रिया है, किन्तु सौन्दर्यबोध के जिस स्तर पर यह बल देता है वह अमूर्त्तन की क्रिया स भिन्न है।

भाषा म निहित नये काव्य-अर्थ की सभावनाओं के उद्घाटन के लिए भाषा की आन्तरिक रचना और इस आधार पर उसकी शक्तिमत्ता का ज्ञान होना आवश्यक है। हममे भाषा के व्यक्तित्व को न सिर्फ महसूस कर सकने वरन् उसे विश्लेषित कर सकने की क्षमता भी होनी चाहिए। यह एक प्रकार स उन औज़ारो की पहचान करना है जिन्हे हम नये सिरे स नय उद्देश्यो के लिए इस्तेमाल करेंगे। भाषा का यह शुद्ध यान्त्रिक पक्ष है और उसके नियम-विधान स हमारी जानकारी ज़रूरी है। शुरू म नयी कविता मे भाषा से अर्थ का नया आयाम उभारन के लिए प्राय ध्वनि-चिह्नो कौलन डैश, शब्दो को टुकडे-टुकडे करके रखन के क्रम आदि का प्रयोग किया जाता था, किन्तु भाषा के इस आन्तरिक नियम-विधान (मैकेनिज्म) स परिचय उस समय तक नय कवि को नही था। इसीलिए उस प्रकार का भाषा-प्रयोग एक छिछले किस्म का 'चमत्कार' ही उत्पन्न कर पाता था। देखा जाए तो इस नियम-विधान की गैरजानकारी ही एक सीमा तक अभिव्यक्ति म मैनरिज्म और जकड़ाव बनकर उपस्थित हुई है। कविता म भाषा-प्रयोग की विधि, उसम प्रयुक्त शब्दा का निश्चित व्याकरणिक क्रम (सिन्टैक्स), उसका विशिष्ट वाक्य-विन्यास प्राय आज नय अर्थप्रभावो को पनपन ही नहीं देता। सवेदना चाहे कितने ही अछूत सन्दर्भों स उठाई गई हो, अनुभूत-सत्य कितना ही नवीन हो, अभिव्यक्ति का रूप कितना ही सशक्त हो, भाषा-प्रयोग का यह प्रचलित नियम और नियमों के साँचे मे ढला हुआ परिष्कृत सस्कार उसे बासी बना देता है। बहुधा हम जो अर्थ ध्वनित करना चाहते हैं वह होता ही नही, अर्थ की वह नयी छटा जो एक हल्के स इशारे से मुखर हो उठती उसके द्वार पर पुराना ताला पड़ा हुआ होता है।

(इस कठिनाई को हल करने का एक उपाय है भाषा म शब्द योजना और वाक्य-विन्यास के क्रम म मूलभूत परिवर्तन। यह निश्चय ही साहसिक कार्य है और अर्थ का अनर्थ हो जान का भी खतरा है। किन्तु नयी कविता म विकास की यह एक मौलिक दिशा हो सकती है।)

भाषा के इस नियम-विधान से नया कवि बिल्कुल ही अपरिचित हो ऐसी बात नहीं। उदाहरण-रूप म एक अजितकुमार का ही नाम लिया जा सकता है। साधारण बोलचाल के शब्दो द्वारा नया अर्थ सम्प्रेषित करन की उन्होंने चेष्टा की है और कमोबेश वे इसम सफल भी हुए हैं। किन्तु काव्य की नयी दिशा का निर्णायक सूत्र यह नियम-विधान मात्र न होकर, यथार्थ-अनुभव की व्यापकता, मार्मिकता, उसकी सघनता एव तीव्रता है।

और इसी सन्दर्भ में मुझे कुछ नये कवियों की काव्य-रचना के उदाहरण दिलचस्प लगे हैं जिनमें वे भाषा के उस मूलभूत मन्त्र—भाषा को सचालित करने वाले नियम-विधान—से अवगत होते हुए भी अपने भावबोध में कुछ पीछे ही रह हैं। केदारनाथ सिंह की 'सम्प्रति' में प्रकाशित तीन कविताएँ मेरे इस कथन का उदाहरण हो सकती हैं। उनमें नये अर्थसम्प्रेषण की चेष्टा, जो किसी सीमा तक सफल है, होने के बावजूद उनकी संवेदना का वातावरण और भगिमा रोमांटिक ही लगती है। व्यापक यथार्थ में उद्भूत जीवन्त काव्यानुभूतियों की यह कमी ही यदि अजितकुमार में न होती तो शायद भाषा के उस नियम-विधान की दृष्टि से वे आधुनिक काव्य-दिशा को वहन करने वालों में एक सशक्त कवि होते।

कविता में नया सृजनात्मक अर्थ भरने एवं उस अर्थ का नया आयाम रचने के लिए भाषा के नियम-विधान का ज्ञान आज के कवि की आवश्यकता है। किन्तु यथार्थ के संश्लिष्ट सृजनात्मक अनुभव की गत्यात्मकता ही भाषा के इस पक्ष को शक्ति प्रदान कर सकती है। यह नियम-विधान अनुभूति की बहुत थोड़ी 'खुराक' से चलता रह सकता है। जितने ही अंशों में अनुभूति क्षेत्रों का विस्तार होगा, उनसे क्रियात्मक सम्पृक्ति होगी, जितने ही अधिक अनुभूति के क्रास-सेक्शन्स होंगे उतने ही अंशों में भाषा द्वारा नया अर्थ सम्प्रेषित करने की कठिनाइयाँ बढ़ती जाएँगी और कवि सामर्थ्य की परख हो सकेगी। नहीं तो कालान्तर में यह नियम-विधान एक ऐसी कविता को जन्म दे सकता है जो हुनरमन्दों की कविता बनकर रह जायगी और मिस्त्रीगिरी के काम की तरह एक विशेषित क्रिया का स्थान ग्रहण कर लेगी। ऐसी स्थिति में एक टुटपुँजिए कवि और एक सच्चे कवि में फर्क करना कठिन होगा।

नये कवि की स्वचेतनता का उसके रचना-कर्म को प्रभावित करने में आज महत्वपूर्ण स्थान माना जाने लगा है। साधारण भाषा के माध्यम से असाधारण अर्थ व्यक्त करने और रचना संवेदना का नया स्तर कायम करने के लिए कवि में अपने चतुर्दिक परिवेश के प्रति जागरूकता के अतिरिक्त रचना-प्रक्रिया के प्रति स्वचेतन होने का तत्त्व भी जरूरी हो गया है। 'माध्यम मैं' बने रह सकने की स्थिति अब सम्भव नहीं। किन्तु इस स्वचेतनता के तत्त्व ने कवि-कर्म में कई कठिनाइयाँ भी उपस्थित कर दी है। आरम्भ में ही हम यह संकेत कर आए हैं कि वर्तमान ज्ञान विज्ञान की तीव्रतर गति ने किसी भी वस्तु का रहस्यमय बना रहना असम्भव कर दिया है। पहले कवि-कर्म की सार्थकता एवं सफलता इस बात में मानी जाती थी कि वह कविता में यथार्थ का 'भ्रम' रच सकने और उस भ्रम द्वारा पाठक अथवा श्रोता को 'विमुग्ध' कर सकने में किस हद तक समर्थ है। अब चूँकि भाषा के अत्यधिक पारदर्शी होने की वजह से उसके आर-पार किसी भी शब्द का बिल्कुल सही-सही अर्थ देखा जा सकता है और किसी प्रकार के 'भ्रम' अथवा परिकल्पना की गुंजायश नहीं, अतः कवि के रचना-कर्म की सफलता इस बात पर निर्भर हो गई है कि वह किस हद तक उन्हीं उन्हीं साधारण, अरहस्यमय, परिचित शब्दों अथवा शब्द-समूहों से एक सर्वथा नया अछूता अर्थ-सन्दर्भ रच कर पाठक या श्रोता को 'चकित' कर सकने में समर्थ

है। दोनों का यह अन्तर कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। दूसरी प्रक्रिया एक चेतन प्रक्रिया है और नये कवि को अपनी ताकत एक ऐसे रास्ते से आजमाने का अवसर देती है जिसके निर्माण मे वह अपने जाने-माने औजारो का उपयोग कर सकता है। इसके साथ ही यह प्रक्रिया पाठक के रचनाक्षण के अनुभव मे क्रियात्मक सहयोग के तत्व को भी रेखांकित करती है, अर्थात् पाठक के उस नये सम्प्रेषित अर्थ द्वारा चकित हो सकने पर बल देती है। अर्थ-विस्तार का यह एक ऐसा आयाम है जो आज के पहले सम्भव नही था। तब पाठक या तो विमुग्ध होता था या नही होता था (तब उसे अ-रसिक मान कर छुट्टी दे दी जाती थी), इससे कवि का रचना-कर्म तनिक भी प्रभावित नही होता था। आज पाठक का चकित हो सकना काव्य की प्रेषणीयता के पहलू को एक समस्या के रूप मे कवि के सामने रखता है।

फिर भी ऐसा लगता है कि पाठक की सवेदनक्षमता को प्रेरित करने तथा भाषा का नया सृजनात्मक अर्थ खोलने मे कवि की यह 'स्वचेतनता' एक सीमा के बाद अवरोध बनती जा रही है। जब कवि अत्यधिक सतर्क सजग बन जाय (और ऐसी स्थितियां आज तेजी से बनती जा रही है) तब वह शब्द के सम्पूर्ण अर्थ को निचोड लेना चाहेगा, जबकि पाठक चकित हो इसके लिए यह आवश्यक है कि स्वय कवि म भी अपने को चकित होने देने का माद्दा हो। उसके पास एक ऐसी भावभूमि रहनी चाहिए जहाँ से स्पष्ट होने वाले अर्थों का एक आयाम सर्वदा छूटा हुआ हो और जिस तक पहुँचने की कोई बँधी बँधाई फार्मूलाबद्ध प्रणाली न हो। एक दृष्टि से देखा जाय तो पूर्ण सुनिश्चित तरीके से, अर्थ की सभी छवियो को जान-बूझ लेने पर, या कम से कम वैसी चेष्टा व्यक्त करने पर, अर्थ का वह नया स्तर बन ही नही सकता। ऐसी दशा मे कविता पढते समय बराबर यह लगता है कि हम 'कविता' पढ रहे हैं। इससे कविता के सृजनात्मक अनुभव का आयाम सीमित हो जाता है। पाठक (और कवि भी) जब इस सीमा तक 'कविता सजग' हो जाय तो कविता बेमानी-सी लगने लगती है। तब लोग कविता म दिलचस्पी खो बैठते हैं काव्य-चर्चा सुनने या करने से घबराने लगते हैं, कविता छोड कर कथा-लेखन-पाठन (या दूसरी किसी साहित्य-विधा) म प्रवृत्त होते हैं। कुछ लोग उकता कर यह भी कहते देखे जा सकते हैं कि कविता का फार्म ही मर चुका है।

नये कवि की 'स्वचेतनता' के सन्दर्भ म सृजनात्मक अभिव्यक्ति की समस्या का एक पहलू और भी है। आज ऐसा लगने लगा है कि इस स्वचेतनता के कारण वर्तमान युग-जीवन के असह्य जटिल एव मार्मिक रूपो का नया कवि केवल द्रष्टा-मात्र रह गया है। वह इस तीव्रता के साथ यथार्थ का अनुभव करने लगा है, और वैचारिक स्तर पर उसके इतने विविध पक्षों से सम्पृक्त है, कि सब कुछ चुपचाप भोगते रहने के सिवा उसके पास कोई चारा नही, क्योंकि आगे की सभी स्थितियों तथा गतियो को वह पहले ही भांप ले रहा है। परिणामतः 'कर्म' से स्थगित होकर कविता का 'मैं' एक नैरेटर मात्र है, कविता के अनुभव का गत्यात्मक पात्र नही। कविता मे अनुभूति की मार्मिक स्थितियाँ वर्णित

हो जाती है, वे किसी द्वन्द्व को 'घटित' नहीं कर पाती। यथार्थ के कटु अनुभव को या तो शान्तिपूर्वक शुद्ध सौन्दर्यबोध के रंगीन जाम में भर कर पी डालिए या फिर उससे बौखला कर काव्यात्मक अनाप-शनाप बकिए—कुछ इसी तरह की हालत आज देखने को मिल रही है। किन्तु उस दर्द की तत्क्ष अनुभूति और उसके द्रष्टापन के बोध से सच्ची 'नाटकीयता' की सृष्टि नहीं हो पा रही है, जो कविता की एक महत्त्वपूर्ण दिशा बन सकती है।

[१९६३]

एक सवाल—अपने आप से

"दूसरो का बनाया हुआ नरक मेरा जीवन   "

अपनी यत्रणा को इस तरह व्यक्त करना मेरे लिए आसान है। दूसरो पर इस ढग की अभिव्यक्ति असर करे, उन्हे झकझोर दे, इसके लिए मुझे सिर्फ इतना करना होगा कि मैं अपनी भावनाओ की तमाम शक्ति और उद्वेग और मानसिक एकाग्रता का पराक्रम इस तरह की अभिव्यक्ति म लगा दूं, बारूद के ढेर की तरह उस अभिव्यक्ति के शब्दो म भड़क उठू, तीव्र भावनाओ का पलीता लगा कर अपनी व्यक्तिगत यत्रणा के टुकडे टुकडे उडा दूं। यह सहज सम्भव है कि पाठक को य टुकडे जाकर लगें, चुभें और वह मर्माहत हो उठे। पर मैंने अपनी यत्रणा को पीडा को खाली कर देने के सिवाय—और अपनी रिक्तता को बढ़ाने के सिवाय, क्योकि पीडा-मुक्त हो जाने के बाद रिक्तता के सिवाय क्या रह जाता है—क्या पाया? और एक प्रबुद्ध पाठक को भी सिवाय मर्माहत होने के और क्या मिला? अपनी पीडा का पेड पूरा का पूरा जड समेत उखाडकर (पराक्रमी हनुमान की तरह) दूसरो के सिर पर पटक देना, न कि उस पाठक म पीडा का ही वृक्ष बो देना—इस तरह की जो अभिव्यक्ति है उसमे यही कमी रह जाती है।

फिर वह नरक भी कहाँ है? एक आवेश है, उद्वेग है, शोर और शोर के पीछे कण्ठ की शक्ति। शब्द, महज शब्द एक दूसरे से गुत्थमगुत्थ। क्या अभिव्यक्ति में ही नरक रच नही दिया जा सकता? लेकिन इसके लिए पीडा को महज पूरे वेग से फेंकना भर नही रह जाता।

एक कवि हमेशा उस तनाव के बिन्दु पर अपने को कायम रख सकता है जहाँ से वह पूरे आवेश, भावनाओ के उफान के साथ अपनी पीडा फेंक सकता है। पर उस कवि को मैं एक ठहरा हुआ कवि कहूँगा, या हद से हद एक वृत्त पर चक्कर लगाता हुआ ठहरा कवि। आज जिस किस्म की रचनात्मकता की मांग हमारे देश के पूरे परिवेश मे छुपी हुई है, उसके सन्दर्भ म वह अवरुद्ध रचनात्मकता का ही उदाहरण पेश करेगा, वह ठहरा हुआ कवि। हो सकता है बहुत सशक्त, पाठको को झकझोर देने वाला, पर परिपक्व नही।

एक खास स्तर की परिष्कृति, चाहे वह भाव-सत्य की हो या अभिव्यक्ति तन्त्र की, परिपक्वता नही है।

परिपक्व होने न होने का सम्बन्ध जीवन को देखने के दृष्टिकोण पर निर्भर है।

क्या आप अभी तक यह समझते हैं कि जीवन की सारी (कला की सभावना स पूर्ण) स्थितियो को भावनाकुल सवेदना की दृष्टि से ही देखा जा सकता है ?—खासकर कविता मे उस जीवन को ? क्योकि कविता को आप जरा आन्तरिक एकालाप की वस्तु मानते हैं और आपको भय है कि उस आत्मपरक सवेदनशील भावाकुल धरातल से हटे नहीं कि कविता जैसी चीज तो कम से कम गई।

लगता है आप कविता को बहुत बडी चीज मानते हैं, बहुत बडी चीज, और उस बडी चीज को आप किसी शर्त पर छोडना नही चाहते। लगता है आप कविता को जीवन से भी बडी चीज मानते हैं।

तो सवाल घूम फिर कर वही है—जीवन क्या है ?

क्षण क्षण के अस्तित्वबोध मे जो चीज आप महसूस कर लेते हैं, महसूस करने की प्रक्रिया का सम्पुजित प्रभाव ? आपके लेखे शायद कविता उस महसूस करने की प्रक्रिया का ही अकन है। अत इस तरह जितना आप महसूस कर लें वह खुद-ब-खुद कविता के दायरे मे चला आएगा। अधिक और व्यापक ढग से महसूस करेंगे तो आपकी कविता अधिक उदार भावो, आशयो सरयो वाली होगी और आपका काव्य-व्यक्तित्व उतने ही अनुपात म समृद्ध और व्यापक होगा। यदि आप बडी शक्ति से महसूस करते हैं तो लोग कहेंगे कि आप की कविता बडी सशक्त है। यदि आप उस महसूस किए हुए का विशद चित्र छोटी बडी तमाम छायाओ-रेखाओ म रखेंगे तो लोग कहेंगे कि आपकी पकड बडी गहरी है, आपकी दृष्टि सूक्ष्मदर्शी है।

पर बन्धु, मुझे तो लगता है कि आपने कविता का उल्था किया और उसे जीवन के नाम पर चालू किया और जीवन का उल्था किया और कविता बना ली। आप उस 'रचना' नामक क्रियापद वाची अर्थ से वचित रहे जिसका एक नाम जीवन है और दूसरा कविता। एक का दूसरे म उल्था नही किया जा सकता। जबकि आप यह करते रहे कि जीवन की शक्ति और वेग का कविता मे उल्था करते रहे और यह समझते रहे कि इससे कविता सशक्त होती है। क्या इस तरह की बातें आज नही की जाती कि जो जितना ही जिएगा, जितना ही तीव्रता, गहराई, व्यापकता (और भी कई शब्द इसी वजन के इस्तेमाल किए जाते हैं) से भोगेगा उसकी कविता उतनी ही महत्वपूर्ण, जीवन्त, सशक्त, यथार्थ, प्रामाणिक (और भी कई शब्द इसी वजन के इस्तेमाल किए जाते हैं) होगी ? इस कथन मे आप यह आसानी स देख सकते हैं कि जीवन और कविता को एक ही चीज मान लिया गया है। एक का दूसरे मे उल्था किया और बाजी मार ली। इस समीकरण का ही परिणाम है कि स्वप्निल कविता लिखने के लिए जहाँ पहले कविगण लम्बे केश आदि रखने-जैसी व्यक्तित्व-मुद्रा अपनाते थे, आज कवि 'भूखे' और 'नगे' जीवन की बीट-निक-मुद्रा पर उतर आए हैं। समाज के यथार्थ की कविता लिखनी है—और यह याद रहे कि आज के समाज मे सब मूल्य टूट चुके हैं, कुहराम है—तो शराब पीकर, रण्डीबाजी कर, गलियो या नाइट क्लबों मे चक्कर लगाते हुए टूटने की उस विशाल धारा मे जुड

जाओ जो युग को अपने नागपाश मे जकडता जा रहा है। •

एक बात सही है—जीवन कविता को और कविता जीवन को एक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते है। आपका जीवन को जीना कविता के स्तर पर जीवन को कविता मे उत्पन्न करना नही है। यदि आप जीवन 'जीते' है→तो कविता 'रचते' हैं→तो कच्चे माल के रूप मे जीवन को कविता के लिए केवल महसूस करने की वस्तु के रूप मे नही लेते।

मैं नही जानता कि वास्तविक जीवन जीना किसे कहते है। यह बताना शायद दार्शनिको के काम मे शुमार है। हां मैं इतना जरूर बता सकता हूँ आपकी कविताओ को पढकर, कि आपने वास्तविक जीवन जिया है या नही, यानी कविता रची है या नही, यानी कि फिर जीवन 'रचा' है या सिर्फ उसे महसूस किया है। मैं बता सकता हूँ कि अगर आपने कविता नही 'रची' है तो सिर्फ जीवन के उद्वेगों,आवेगों को सामर्थ्य भर ताकत और वेग से कविता के नाम पर मेरे सिर पर पटक दिया है, मेरे दिल दिमाग पर छा जाने के लिए, मेरी महानुभूति जीतने के लिए, मुझे हंसाने या रुलाने के लिए भावनाओ का बडा कहर बरपा किया है। पर—मैं अपना सवाल फिर दुहराता हूँ—आपने मुझे दिया क्या ? आपने मेरी सहानुभूति ली, मेरे दिलो-दिमाग पर अपना कब्जा कर लिया, मेरी भावनाएँ, मेरे भाव-यन्त्र की सूक्ष्म हरकतें, मेरे राग-तन्त्र की कोमल रागिनी—सभी कुछ ले ली, पर बदले मे मुझे दिया क्या ? और ऐसा करके आपने भी अन्तत पाया क्या ? क्या हमारी और आपकी नियति दो अंधे यात्रियों की तरह नही है जो किसी अंध गह्वर मे भटक रहे है और जिनमे से कोई एक दूसरे को रास्ता नही बता सकता, एक दूसरे से सहानुभूति भले रख सकता हो ?

कविता का यदि यही रोल है—और इतिहास साक्षी है कि पुराने जमाने से लगाव लगभग अब तक कविता का यही रोल रहा है—तो क्या आगे भी आने वाले युगों मे उसका यही रोल रहेगा ? अंधे यात्रियो की समानान्तर यात्रा? गूंगे का गुड, जिसे कवि महसूस करेगा और पाठक भी, और दोनो ही दृष्टि के नाम पर सिर्फ सिर हिलाते रह जायेंगे ?

[१९६६]

काव्यभाषा का इकहरापन

अक्सर यह मान लिया जाता है कि काव्यभाषा का संकट अनुभूति का संकट है। अनुभूति का संकट अर्थात कवि के भावयन्त्र का जीवानुभूति के अधिक-से अधिक सुरों से न बज उठना। अनुभूति ऐसा जल है जो काव्यभाषा में अपना धरातल अपने आप ढूंढ लेगा, बशर्ते कि जल हो, काफी हो और उसमें प्रवाह हो। काव्यभाषा की क्षमता यह अनुभूति का जल ही निर्धारित करेगा। जहाँ अनुभूति का सोता ही सूख चला हो वहाँ काव्यभाषा की बेल तो मुरझेगी ही—इस तर्क का सरल गणित हमें भाता है। हमने कविता की अपनी समझ पर इस तर्क को खूब माँजा है और कविता में उसके परिणाम भुगते हैं।

एक काव्यभाषा ऐसी कि उसमें रचना का अर्थ घूर कर देखने से उड़ जाय—मानो उस अर्थ को आप अर्द्धनिमीलित आँखों से ही देखते रह सकते हैं। यह अर्थ भावनाओं की दलदल में पंख लिथड़ा स्थिर खड़ा रहता है, पंगु और करुण। ऐसी काव्यभाषा के पीछे अनुभूति की ताकत, जितनी भी ज्यादा वह हो, का मतलब यह होगा कि वह रचनात्मक अर्थ अपने पंगु स्थिरपन के प्रति जिद्दी है, एक निश्चित संवेदना-वृत्त पर ही घूमता है, रंग उसका अपरिवर्तनशील है और बुनावट उसकी निर्मम रूप से इकहरी। अनुभूति के बावजूद इकहरी।

एक दूसरी काव्यभाषा ऐसी कि उसमें रचनात्मक अर्थ की कोई 'जड़' ही नहीं—उसके पीछे अंधेरे के रस का वह लम्बा और अभिन्न सिलसिला ही नहीं जिससे अप्रत्याशित अर्थ की कोंपल फूटती है। यह काव्यभाषा अपने अस्तित्व के लिए भूमिगत विस्फोटों पर नहीं, सतह के तनावों, हलचलों आन्दोलनों पर मुनहसिर है। सतह पर बहुत कुछ घटित हो रहा है, पर इस काव्यभाषा के लिए वह बहुत कुछ एक तेज रोशनी में घटित हो रहा है, जिसमें जो कुछ घटित हो रहा है वह साफ-साफ दिखाई दे रहा है और ज्ञान की पकड़ में आ रहा है। सपाट और बेलौस और नंगा। यथार्थ और उसके साक्षात्कार में कोई आड़ नहीं, अनुभूति तक की आड़ नहीं। गोकि अनुभूति है—किसी आदिम जड़ की शिराओं से उमड़-उमड़ कर सतह पर आती हुई नहीं, बल्कि अपने चारों ओर सब कुछ बेहिचक देखने वाली आँख पर रोशनी की नोक की तरह सन्नद्ध। पर इकहरापन यहाँ भी है।

आज के अनुभव में ही फाँक है। अपने आसपास से जो जितना छुआ है वह अपने

आप से उतना ही बेगाना है। इससे जो स्थिति बनती है उसमे या तो जानना ही जानना है या महसूस करना ही महसूस करना है। इस फाँकयुक्त अनुभव मे जानने की अनुभूति भी है और महसूस करने की अनुभूति भी। जानने और महसूस करने के बीच युग-संवेदना की वह ट्रेजिडी है जो इस या उस पक्ष मे बह जाती है। पूरी अनुभूति के साथ बह जाती है। जिनकी काव्यभाषा इकहरेपन से पीड़ित है उनकी अनुभूति की सच्चाई के बारे मे मुझे कोई सन्देह नही, क्योंकि दरअसल काव्यभाषा के इकहरेपन की जिम्मेदारी सिर्फ *अनुभूति पर नहीं, अनुभूति के साथ कवि का रिश्ता किस किस्म का है इस पर है।* कवि अनुभूति के साथ किस किस्म का सुलूक करता है, वह अनुभूति को किस प्रणाली द्वारा रचना मे स्वायत्त करता है, किन रास्तो से चलकर अनुभूति का सत्य रचना के सत्य मे बदलता है—इस रूपान्तरण मे कवि किस रसायन का इस्तेमाल करता है—ये सब काव्य भाषा के स्तर का निर्माण करते हैं, अकेली अनुभूति नहीं।

रचना अनुभव मे धँसने, डूबने और तड़फड़ाकर कुछ पा लेने की एक जटिल प्रक्रिया है। इकहरेपन से पीड़ित काव्यभाषा यह जाहिर करती है कि कवि ने उस जटिल प्रक्रिया मे पड़ने के बजाय अनुभव को स्वायत्त करने का एक आसान नुस्खा अपनाया है। अतः इकहरी काव्यभाषा मे अर्थ जल्दी समझ मे आ जाता है, क्योंकि वह अर्थ परिभाषित अर्थ होता है और पाठक को सिर्फ समझे जाने का सुख देता है। वह अर्थ एक ठहरा हुआ अर्थ है—रचना के भीतर अनुभूति और शब्द से बने परिवेश म ठहरा अर्थ। उस परिवेश मे वह अर्थ *न अनुभूति और शब्द के किसी नये सम्बन्ध को तलाशता है न अपने* मे किसी नये सम्बन्ध को बनने देने की गुंजाइश रखता है, न ही जो सम्बन्ध बन गये हैं उन्हे तोड़ता है। यह अर्थ की कविता मे सदा के लिए खुद गयी छाप ही काव्यभाषा का इकहरापन है।

छाप यानी साँचा। इस साँचे को सिर्फ अनुभूति नही तोड़ सकती। क्योंकि अनुभूति भी आज एकजुट नही रही, जानने और महसूस करने मे बँट गयी है। कवि का या तो सब कुछ बाहर है या सब कुछ भीतर। बाहर और भीतर के बीच अनुभूति केवल एक तरफ को खुलने वाले किवाड़ की तरह है जिससे बाहर वाला जब भीतर आता है तब बाहर को वहीं छोड़ आता है और जब भीतर वाला बाहर जाता है तो बाहर का ही हो कर रह जाता है। अपने परिवेश से अनुभव के स्तर पर दोनो जुड़ते हैं और उन सकटो का सामना करते हैं जो उस जुड़ने से पैदा होते हैं। पर एक अपनी समस्या का हल सपाटबयानी मे—यथार्थ के बिना लाग लपेट के नगे साक्षात्कार मे—ढूँढता है तो दूसरा उसे जातीय स्मृति के बहुस्तरीय अर्थ गौरव मे। पहला यथार्थ को पहचानता है पर उस पहचान म कुछ जोड़ता नही, जबकि दूसरा उस यथार्थ को टटोलता और छूता है पर उसे पहचानता नही। काव्यभाषा का इकहरापन एक दुर्घटनाग्रस्त रचना प्रक्रिया का सवाल है, काव्यभाषा को जातीय स्मृति के अर्थ-वैभव से जोड़ना उसका जवाब नहीं। दुर्घटना का इलाज सुरक्षा के साधन अपनाना नही, दुर्घटना की सभावना को ही खत्म कर देना है।

सपाटबयानी को 'आम आदमी' के साथ जोड़ा गया है। 'आम आदमी' व्यापक जीवनानुभव का प्रतीक है। यह माना गया कि इस व्यापक जीवनानुभव में शिरकत भाषा के सौन्दर्यवादी संस्कार को तोड़ कर की जा सकती है। भाषा आज के संघर्ष में तप रहे उस अनुभव से जुड़ने का साधन नहीं, हथियार है। भाषा की सपाटबयानी उस हथियार की धार है जो हाथी दाँत की मीनारों में बन्द अभिव्यक्ति के जाल-जंजाल काटेगी और उसे 'आम आदमी' की नियति के साथ एकाकार करेगी। घनघोर भीतर से बाहर के बीहड़ इलाके की यह यात्रा—'आम आदमी' की राह पर चल कर भाषा को मुक्त करने का यह अभियान शुरू में फलप्रद रहा। काव्यभाषा से काई की तरह लिपटी चली आ रही बहुत सी 'साहित्यिक' स्मृतियाँ अलग हुईं, बाहर की आग में झुलस कर नष्ट हुईं और अभिव्यक्ति का रूप मानवीय संवेदना की उसकी तात्कालिक प्रखरता में झलका सका। पर शीघ्र ही भाषामुक्ति के इस अभियान में इतने मुजाहिद शामिल हो गये कि अनुभव जीवन को उसकी विविधता और तीव्रता में जीने का नाम न होकर जीवन के प्रति एक काम चलाऊ रवैया हो गया। 'आम आदमी' एक संघर्षरत मनुष्य की तरह नहीं, एक अवधारणा की तरह आया और भाषा में कविता को विस्थापित कर बैठ गया।

'आम आदमी' वाली कविताओं में अक्सर प्रयुक्त 'हम' किसका सूचक है? दूसरों के अनुभवों में शरीक होने का? या फिर यह 'हम' एक नेकी का दरिया है जिसमें 'मैं' को डालकर बहा दिया गया है?

> पर एक निकम्मी चीज है भाषा
> इसके मारे परेशान हूँ
> जहाँ अनुभूति की पूरी सच्चाई से लिखना चाहता हूँ 'वे'
> वहाँ हो जाता है 'मैं'

यह 'मैं' का आत्मव्यंग्य के स्वर में किया गया विलाप नहीं, 'हम' की जीत की हँसी का निर्लज्ज शोर है। 'हम' अलग-अलग मानव-इकाइयों का ज्ञान है, पर यह ज्ञान कविता में सिर्फ *जानकारी बन सका, अन्तर्दृष्टि नहीं। जीवन को जानना अवश्य ही जीवन* को जीना भी है, पर यह जीना अपर्याप्त जीना है। जीवन को अपर्याप्त जीना तनाव की सतह पर जीना है। 'आम आदमी' वाली कविताओं का 'हम' सतह के तनाव तक ही सीमित है, वह भीतर की उन असम्य और सुदीर्घ जीवन-नाड़ियों के रस स्रोत से नहीं जुड़ सका जो जीवनबोध को अधिक जटिल, संश्लिष्ट और सम्पूर्ण बनाता है। देखें तो युवा कवियों द्वारा लिखी गयी अधिकांश लम्बी कविताएँ इस 'हम'-मनोविज्ञान से प्रेरित कविताएँ हैं। 'हम'-मनोविज्ञान में पड़ा कवि परिवेश, व्यक्ति और वस्तुएँ—सब कुछ को एक सतही भाईचारे में शामिल कर लेता है, पर असल में पूरी तरह पूरे मन से वह जुड़ता किसी एक से भी नहीं। 'हम' की ओट लेकर वह 'मैं' का शिकार करता है, पर दूसरी तरफ 'मैं' की रक्षा भी करता है। दूसरों का हो जाने की कामना रखते हुए भी वह अपने स्वत्व की इकाई को 'हम' की दहाई में मिला कर विलीन होने देना नहीं चाहता। पर

का इकहरापन वह आईना है जो उसके वास्तविक चरित्र को उघाड़ देता है
न तो अपना न ही दूसरों का हो पाना—
हाँ, हो सके तो बगल से गुजरते हुए उस आदमी से कहो—

लो, यह रहा तुम्हारा चेहरा,
यह जुलूस के पीछे गिर पड़ा था

पर इस आत्मबोध के लायक जमीन 'हम'-मनोविज्ञान के कवि के पाँव के नीचे कम की निस्स्व पुथी होती है। कविता चीजों को चीजों से, व्यक्ति को व्यक्ति से और व्यक्ति को चीजों से जोड़कर अनुभव का एक सघटित ससार बनाती है। इकहरेपन से पीड़ित भाषा में इस ससार के जोड़-जोड़ खुले हुए और व्यक्ति और वस्तु के तमाम तरह के सम्बन्धों के पुल टूटे हुए होते हैं। 'हम'-मनोविज्ञान की लम्बी कविताएँ 'मैं' और 'हम' के बीच के वही टूटे हुए लम्बे पुल हैं।

कविता में सपाटबयानी की जो करुण परिणति भाषा के इकहरेपन में हुई उसे देखकर कुछ लोगों को जातीय स्मृति का ख्याल आया। यह समझा गया कि भाषा में अर्थ की तहें पैदा करने के लिए हिन्दी काव्यरचना के इतिहास की यादें, बिम्ब मालाएँ, प्रतीक-ध्वनियाँ और विन्यास, यानी हिन्दी के जातीय ससार की उपलब्ध सामग्री का उपयोग कारगर सिद्ध होगा। पर दुर्भाग्य से भाषा को जातीय स्मृति से जोड़कर उसे अधिक अर्थपूर्ण बनाने की जो मिसालें हमारे सामने हैं उनके परिणाम अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं हैं। कुँवर नारायण का 'आत्मजयी' और अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' यदि ये केवल दो उदाहरण लें तो यह सहज ही देखा जा सकता है कि आज की रचनात्मक लड़ाई कल के हथियारों से नहीं लड़ी जा सकती या फिर आज की जुझारू सघर्ष-चेतना को कुंद करके, 'वर्तमान' के साथ अनिवार्यतः जुड़ी आदमी की रचनात्मक नियति को स्थगित करके ही लड़ी जा सकती है। इस लड़ाई में जीत हमेशा 'शाश्वत' की ही होती है और वर्तमान उसमें बार-बार मरता है। जहाँ यह दो टूक फैसला नहीं है वहाँ समय बोध की खण्डित पहचान है। 'आत्मजयी' में उसी खण्डित पहचान का सशय है। अज्ञेय की कविता 'शाश्वत' के प्रति अपेक्षाकृत ज्यादा आश्वस्त है और उसी हद तक आज की काव्यचिन्ता के लिए अप्रासगिक। दरअसल अपने समय की चुनौतियों से निबटने के लिये अतीत-समय की प्रेरणा भूमियों में जाना आज के अन्त सघर्ष को मन्द और गुमराह करना है। कविता के इकहरे ससार की विपन्नता स्मृति की अर्थछवियों से भरी जाकर नहीं दूर की जा सकती।

वस्तुत भाषा का इकहरापन जातीय ससार की यादों से रहित होने की वजह से नहीं, बल्कि इसलिए है कि अपने समय को पूरी भाव और बुद्धि-ऊर्जा के साथ जिया नहीं गया है। पूरी आसक्ति और उत्कटता के साथ। वह जीना एक लपट की तरह का जीना है जिसमें अतीत के शाश्वत बिम्बों का जड़ीभूत सौन्दर्य और भविष्य की अयथार्थ ...ता ... बिम्ब दोनों ही जलकर राख हो जाते और हमारे समय का रचनात्मक अर्थ

फ़ीनिक्स पक्षी की तरह इस राख से जीकर निकलता। फ़िलहाल स्थिति यह है कि हममे समय की अनुभूति है पर उसके रस से निकली हुई वह अग्नि-दृष्टि नही जो इस रस को पकाकर रसायन बना दे। अनुभव से साक्षात्कार के क्षण को उसकी चरम परिणति तक पहुँचाने के पहले ही हमारा कवि फट जाता है, शब्द और अर्थ एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और काव्य संवेदना कच्चे बीजो की तरह बिखर जाती है।

इससे बढ़कर विडम्बना और क्या होगी कि कवि-प्रतिभा के इस दारुण ह्रास को आज की रचनात्मकता की एक बुनियादी शर्त मान लिया जाय और इसी मे आगे की संभावना देखी जाने लगे। युवा आलोचक नित्यानन्द तिवारी जब यह कहते हैं कि 'आदमी जिन छोटी-बड़ी, अच्छी बुरी, सुन्दर-कुरूप परिस्थितियो मे घिरा है, उनके भीतर से गुजरने के अलावा वह और क्या कर सकता है। ऐसी हालत मे एक-एक परिस्थिति और अनुभव को वह जितना निचोड सकता है निचोड ले। लेकिन वह कैसे और क्या निचोड़ेगा सिवा इसके कि तटस्थ सचेतनता के साथ उन्हें झेलने की एक मानसिक तैयारी कर ले। यह मानसिक तैयारी मेरा ख्याल है, बहुत दूर तक परिस्थितियो को बदल देती है और आदमी के गौरव को उभारने लगती है। 'आज जीवन की यह बुनियादी शर्त और मौलिक क्रिया है।' (आलोचना, नवांक-१२) तो एक तरह से वे बहुत से युवा कवियो के मन की बात कह रहे होते हैं। काव्यभाषा के इकहरेपन की जड कहीं यही है—इसी भोले आत्मविश्वास मे कि जीवन को किसी तरह लस्टमपस्टम जी लेना ही मौलिक क्रिया है और साहित्य इस जीने की क्रिया को ज्यो का त्यो अंकित कर देना है। यहाँ इस सोच को कोई स्थान नही कि वह जीना आखिर किस किस्म का जीना होगा, या कि यह विवेक कि जीना परिस्थितियो को सिर्फ झेल लेना नही है। सच्चाई यह है कि आज का सार्थक कवि-कर्म परिस्थितियो मे से गुजर कर अपने 'होने' का हिसाब-किताब रखना भर नही है बल्कि उस 'होने' की दिशा को खोजना और पाना भी है। यह दिशा इसी समय मे है।

[१९७४]

खण्ड-खण्ड की सर्जनात्मकता

समकालीन सृजन-प्रक्रिया को आज के जीवन-बोध की प्रक्रिया के समानान्तर रखकर उस पर विचार करने की प्रवृत्ति इधर बढी है। सर्जनात्मक लेखन के मूल्यांकन म 'अनुभूति की प्रामाणिकता', 'भोगा हुआ यथार्थ', 'जीवन स साक्षात्कार' आदि की चर्चा इस प्रवृत्ति के उदाहरण के रूप म देखे जा सकते हैं। इसका एक प्रत्यक्ष कारण तो यह रहा है कि शुद्ध कलावादी चिन्तन-शैली का दायरा (जैसे कि एक भिन्न स्तर पर शुद्ध एकेडेमिक चिन्तन-शैली का दायरा) समकालीन सृजन के भीतरी दबावो को भाँप सकने मे प्राय असमर्थ रहा है— नयी समीक्षा' अथवा 'नयी आलोचना' की सगति की बात (जिसे समझने-समझाने का काम बहुत कुछ नये कवियों-लेखकों ने स्वय अजाम दिया) इसी सन्दर्भ मे कुछ महत्त्व रखती है। शायद आज के सृजन मे ऐसा बहुत कुछ है जिसे वस्तुपरक कसौटी पर रखकर नही कसा जा सकता, क्योकि वैसा करने के लिए अभी किन्ही सुनिश्चित प्रतिमानो का निर्माण नही हो सका है। इतना होते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि जीवन-बोध की प्रतीति इन प्रतिमानो का स्थान ले सकती है। प्रतिमानो की अनुपस्थिति उनकी व्यर्थता को नही सिद्ध करती। प्रतिमानो की तलाश— जिसमे एक कवि-रचनाकार भी उतना ही शामिल है, जितना कि एक आलोचक—दरअसल 'अनुभूति की प्रामाणिकता', 'भोगा हुआ यथार्थ' तथा 'जीवन से साक्षात्कार' आदि जीवन प्रक्रिया-व्यजक स्थितियो म 'ठहर' न जाने बल्कि उनसे सतत 'गुजरते रहने' की चेष्टा को ही व्यक्त करती है। किन्तु आज समकालीन लेखन मे वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि किसी प्रतिमान का न होना (स्थिति) उसकी तलाश (सभावना) को ही व्यर्थ सिद्ध कर दे रहा है। बल्कि ध्यान से देखें तो प्रतिमान के न होने की स्थिति को एक सुरक्षात्मक कवच की तरह इस्तेमाल किया जाने लगा है और उससे अपने लिए आत्म-उत्तरदायित्व से बचने की अधिक से अधिक सहूलियतें दुही जाने लगी हैं। आज जब एक आलोचक कविता मे 'वियतनाम' या 'अकाल' शब्द के प्रयोग को क्रान्तिकारी परिवर्तन के प्रतीक के रूप मे देखने लगे और एक कवि 'सत्रास', 'सभोग' आदि शब्दो मे आज के युवालेखन और जीवन की कुल अस्मिता अनुभव करने लगे तो दोनो की भाषा मे कोई फर्क नहीं दिखाई देता, क्योकि दोनो ही अपने-अपने पक्ष म प्रतिमान के न होने की स्थिति का लाभ उठाने की चेष्टा कर रहे होते है।

इसी तरह आज के सर्जनात्मक लेखन मे बिखराव, खड अनुभूति, समग्रता एव

नैरन्तर्य का अभाव आदि को समकालीन जीवन और परिवेश में व्याप्त बिखराव, टूट फूट और अपूर्णता के परिणाम के रूप में रखा जाता है और इस आधार पर या तो समकालीन लेखक का बुरा-भला कहा जाता है या उसकी हिमायत की जाती है। पत्र पत्रिकाओं में वर्तमान लेखन को लेकर चलने वाले अधिकांश पोलेमिक्स' का आधार बहुत कुछ यही है जो अक्सर पीढ़ियों के संघर्ष के रूप में भी पश किया जाता है। सृजन प्रक्रिया और जीवन प्रक्रिया को एक-दूसरे का प्रतिरूप मान कर समसामयिक लेखन की आलोचना और तरफदारी करने वाले दरअसल दोनों ही शार्टकट का रास्ता अपनाते हैं। यह सही है कि सृजन प्रक्रिया—खासकर समकालीन लेखन की प्रक्रिया—की कक्षाएँ बहुत कुछ जीवन प्रक्रिया की कक्षाओं को छूती हैं। यह भी सही है कि दोनों कक्षाओं की परस्पर आँच को महसूस करते रहना जीवन्त सृजन के लिए लाजमी है। पर दोनों की शर्तें अलग-अलग और निहायत निजी होती हैं। शार्टकट अपनाने का आग्रह न सिर्फ इन निजी शर्तों को दरगुजर कर जाने का आग्रह है वरन् सृजन प्रक्रिया और जीवन प्रक्रिया की कक्षाओं की उस निकटता को केवल अपने पक्ष में इस्तेमाल करने का भी आग्रह है। उदाहरण के लिए जो लोग समकालीन लेखन में अनुभूतिगत बिखराव, खंडता, अ निरन्तरता आदि को वर्तमान जीवन-परिवेश की मूल्यहीनता, विघटन और दिशाहीनता की अनिवार्य परिणति के रूप में देखते हैं वे इसके बाद भी निरन्तरता, समग्रता, पूर्णता को आज के सन्दर्भ से काटकर वरेण्य मानते हैं, और जब वह नहीं मिलती तो शिकायत करते हैं। दूसरी ओर जो लोग समकालीन लेखक को आत्मनिर्वासित, सन्त्रासपीड़ित आदि मानते हैं वे लेखक के आत्मनिर्वासित और सन्त्रासपीड़ित होने के जीवन प्रक्रियात्मक पहलू और उसकी सर्जनात्मक परिणतियों पर कभी भी गहराई से विचार करने का कष्ट नहीं करते।

आज के सर्जनात्मक लेखन में यदि समग्रता और निरन्तरता के अभाव को वाकई समझना है तो ऐसा उस आज की जिन्दगी की प्रतिच्छाया मानकर चलने से नहीं होगा, क्योंकि ऐसा करने में इस बात का पूरा खतरा है कि किन्हीं बिलकुल ही असंगत निष्कर्षों पर पहुँचा जाय। समग्रता और निरन्तरता को जीवन की विवशता के रूप में नहीं वरन् आज की सर्जनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति के एक विशेष ढंग के रूप में देखना अधिक संगत होगा। खासकर आज की कविता के विवेचन सन्दर्भ में। यह हो सकता है कि आज की कविता में भाव, विचार, बिम्ब प्रतीक आदि की समग्रता और निरन्तरता की माँग करना एक गैर-वाजिब माँग हो। हो सकता है कि फूल को नुची बिखरी हुई पँखुरियों के रूप में पैदा कर कवि अधिक सार्थक अभिव्यक्ति कर पाता हो। आज की कविता में समग्रता और निरन्तरता की माँग एक तरह से यथास्थिति की माँग है और सब कुछ को खंड-खंड कर रखने के पीछे इस यथास्थिति को तोड़ने की सर्जनात्मक चेष्टा ही मौजूद है। यह बहुत सम्भव है कि इस खंड-खंड में बहुत कुछ पाखंड भी शामिल हो जाय और एक स्तर पर सच्ची सर्जनात्मक चेष्टा एक चालाकीपूर्ण कलाबाजी में बदल जाय, पर इस खतरे के बावजूद यथास्थिति को तोड़ने का यह प्रयास महत्वपूर्ण रहेगा। इसके साथ

ही यह बात भी याद रखनी होगी कि प्रयोग की सार्थकता किसी उपलब्धि को हस्तगत कर लेने से नहीं आँकी जानी चाहिए बल्कि इस बात से आँकी जानी चाहि कि वह प्रयोगकर्ता की सर्जनात्मकता को किस हद तक एक तनाव की स्थिति में र सकने में समर्थ है क्योंकि इस तरह ही एक रचनाकार अपने जीवन बोध की जमती हु फफूंद से अपने को मुक्त रख सकता है और कला अनुभव के नये नये जल के साथ बह रह सकता है।

'समग्र' और 'निरन्तर' की सर्जनात्मकता के विपरीत 'खंड-खंड' की सर्जनात्म कता की चर्चा को श्रीकान्त वर्मा के नये काव्य-संग्रह 'माया दर्पण' की 'दिनमान' प्रकाशित समीक्षात्मक टिप्पणी के परिप्रेक्ष्य में कुछ और आगे बढ़ाया जा सकता है 'दिनमान के समीक्षक ने 'माया दर्पण' की कविताओं को एक विशेष काव्य शिल्प प्रतिफलन के रूप में परखा है, एक विशेष प्रकार की अनिवार्यता के प्रतिफलन के रूप नहीं। कविताओं में विचार, भाव, बिम्ब, प्रतीक की समग्रता एवं निरन्तरता के अभा की शिकायत की यही वजह है। यदि इस शिकायत को उचित मान लें तो श्रीकान्त व के साथ-साथ रघुवीर सहाय के 'आत्महत्या के विरुद्ध' की अधिकांश कविताओं क (और आज लिखी जाने वाली अनेक सार्थक कविताओं को भी) खारिज कर देना होग क्योंकि ये कविताएँ एक ऐसे व्यापक सर्जनात्मक प्रयोग का अंग है जिसमें 'निरन्तर' औ 'समग्र' की अपरिवर्तनशीलता और सारे नये विकल्पों को खा पीकर पचा जाने वाल यथास्थिति की जड़ मूर्ति को तोड़ने की आकुल चेष्टा है। किसी एक भाव, विचार, बिम या प्रतीक का शुरू से अन्त तक निर्वाह कर ले जाने वाली कविता जाहिर है कि इ विकलता के साहसिक सर्जनात्मक स्फुरण का अंग नहीं बन सकती। 'निरन्तर' औ 'समग्र' के विपरीत 'खंड-खंड' की एक सार्थक रचना करना आज कहीं अधिक जोखिम पूर्ण अतः महत्वपूर्ण क्रिया है।

सार्थक क्रिया सफल ही हो यह आवश्यक नहीं। 'मायादर्पण' की कविताएँ केव इसीलिए नहीं असफल मानी जा सकती कि वे 'समग्र' और 'निरन्तर' के विपरीत 'खंड खंड' की अभिव्यक्ति को प्रधानता देती हैं, न ही वे इसलिए सफल मान ली जा सकती। कि वे 'निरन्तर' और 'समग्र' के विरोध में लिखी गई हैं। ये असफल होकर भी सार्थ हो सकती है, हालांकि सार्थक होकर भी ये सफल हों तो कोई विरोध नहीं है। ऐसी इ संग्रह में कम कविताएँ हैं जो उस प्रयोग की दृष्टि से सार्थक सफल हों। जहाँ वे ऐस नहीं है वहाँ दोष उनके काव्य-शिल्प में नहीं बल्कि कवि की सर्जनात्मक प्रेरणा में है। यह इस असफलता के विश्लेषण द्वारा खंड-खंड की सर्जनात्मकता की प्रकृति को समझ की एक चेष्टा की जा सकती है।

इसके पहले श्रीकान्त वर्मा के काव्य-संसार के बारे में यह जान लेना होगा कि इस काव्यसंसार को मूर्त रूप देने वाली उनकी कविताएँ एक समर्पित व्यक्ति की कवि ताएँ नहीं हैं जो बाद में दिग्भ्रमित हो गया हो (जैसा कि 'दिनमान' के समीक्षक की मान्यता है), बल्कि एक ऐसे व्यक्ति की कविताएँ हैं जो पूरी तरह समर्पित होने के पह

ही दिग्भ्रमित हो गया है—'तुमको मैं सारा सका न पा। अपने को सारा सका न दे' (पृष्ठ ७६)। इस स्थिति से उत्पन्न तनाव और तनाव से उत्पन्न दाह के तत्वों से ही सम्बन्धों अधिकांशतः श्रीकान्त वर्मा के काव्यलोक का निर्माण हुआ है। इस में मानव-का बोध कराने वाली इकाइयाँ, प्रेम, विश्वास और करुणा नहीं हैं घृणा, अविश्वास और डर है और इन मानव-सम्बन्धों की भाषा व्यंग्य, रोष और चिढ़ की भाषा है। यह कवि की नियति है कि वह इसी भाषा में अपने को सम्प्रेषित कर सकता है—अपने अधूरे समर्पण और दिग्भ्रमित हो जाने के बीच तनाव से उपजी एक ऐसी भाषा में, जो तोड़कर ही जोड़ सकती है, जो चोट पहुँचाकर ही कोई अर्थ ध्वनित कर सकती है। इस तनाव के बिन्दु पर सिमट आने वाला संसार इसीलिए एक ऐसा संसार है जिसमें सब कुछ कवि की शर्तों पर ही घटित होना है और उसकी पहचान भी सिर्फ कवि की ही शर्तों पर हासिल की जा सकती है। चूँकि यह तनाव कवि को नितान्त निजी शर्तों से बने अपने वैयक्तिक संसार की ओर ही ले जाता है इसलिए ये कविताएँ मानवीय सम्बन्धों की किसी गहन संसक्ति और उद्वेलनों का परिचय नहीं देतीं, बल्कि वे बार-बार एक ही जख्म को छूती-सी लगती हैं। यह संसार वैयक्तिक होकर भी रहस्यमय या अर्ध-रहस्यमय नहीं है, इसमें सब कुछ प्रकाशित, बल्कि एक निर्मम ढंग से तमतमाता हुआ है। इसमें चीजें वे नहीं हैं जो कि वे हैं, बल्कि वह है जो कवि अपने व्यंग्य, रोष और चिढ़ की भाषा में उन्हें नाम देता है। इसीलिए कभी-कभी लगता है कि वह भाषा कवि का अस्तित्व बन गई है जिसे वह कस कर मुट्ठी में पकड़े हुए है, जैसे कवि का विशिष्ट भाषा-प्रयोग अपने आपको मुक्त करने के लिए न होकर अपने को उस वैयक्तिक संसार में निरन्तर जकड़ते जाने के लिए है। इसीलिए श्रीकान्त वर्मा का विरोध 'बाहर' के प्रति उतना नहीं जितना 'भीतर' के प्रति है—क्योंकि वहीं बिना रुके, बिना किसी निर्णायक बिन्दु पर पहुँचे बार-बार प्रहार किया जा सकता है। उनका 'भीतर' एक ऐसा दर्पण है जिसमें बाहर के चेहरे और आकृतियाँ आधुनिक युग-संवेदना का मुखौटा लगाये हुए जरूर घूमती नजर आते हैं, पर अन्ततः वह दर्पण मायादर्पण ही साबित होता है, क्योंकि उन मुखौटों को उघाड़ने की चेष्टा में कवि अपने को ही उघाड़ता जाता है। यह बाह्य मुखौटों को उघाड़ने की चेष्टा में अपने को उघाड़ते जाने की बेबाक क्रिया आज की नगर-संस्कृति में एक आधुनिक मनुष्य की विडम्बना को अनावृत करती है, और इसी अर्थ में श्रीकान्त वर्मा का वैयक्तिक काव्य-संसार सम-सामयिक संवेदना का भी संसार बन जाता है।

लेकिन इसकी रचनात्मक निष्पत्ति उनकी कविताओं में सर्वत्र नहीं हो पाती, क्योंकि श्रीकान्त वर्मा का नगर-बोध (जो उनकी संवेदना का मुख्य अंग है) भी पूरी तरह एकतान समर्पित बोध नहीं है। वहाँ भी फाँक है। 'मायादर्पण' की कविताओं को आसानी से दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—एक हिस्से में वे कविताएँ आती हैं जिनका विषय नगर-सभ्यता की जटिलता और मानव-सम्बन्धों की विडम्बना है, दूसरे हिस्से में वे कविताएँ आती हैं जो राग-स्तर पर इन जटिलताओं से दूर प्रकृति के चित्रात्मक प्रसंगों में अपने को आबद्ध पाती हैं। सर्वेश्वर की काव्य-संवेदना में भी ये दो भिन्न स्तर

साथ-साथ मिलते है, पर उनमे इन दोनो के बीच अनिवार्य द्वन्द्व की चेतना का भाव भी बराबर बना रहता है जो अधिकाश मे उनकी कविताओ की शक्ति बनता है। श्रीकान्त वर्मा के इन दो राग-स्तरो के बीच कोई द्वन्द्व नही है, य एक दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया नही करते। सर्वेश्वर की कविताओ मे प्रकृति का सदर्भ हमेशा एक भावावेग से जुडा होता है, इसलिए वह प्राय उनकी जटिल सवेदना के अन्य स्तरो मे पेवस्त होकर एक रचनात्मक गहराई और अर्थमयता ग्रहण कर लेता है। इसके विपरीत श्रीकान्त वर्मा की कविताओ मे प्रकृति का सदर्भ उनकी जटिल सवेदना की धारा म अलग-अलग एक फार्मलिस्ट उपादान मात्र बन कर रह जाता है। देखा जाय तो श्रीकान्त वर्मा की कविताओ मे प्रकृति के ये सदर्भ-खड 'निरन्तर' और 'समग्र' की सजनात्मकता के ही अवशेष लगते है (उनकी छोटी हाइकू टाइप कविताओ मे यह 'निरन्तरता और 'समग्रता' पूर्णता तक पहुँची हुई है) जिसके विरोध मे वे नगर-बोध से उत्पन्न मानव-सवेदना की जटिलताओ म धँसने और उसक अर्थ की अस्त-व्यस्त और खड-खड लयो को पकडने की चेष्टा करते है। 'निरन्तर' और 'समग्र' की सर्जनात्मकता म भाव-अर्थ सप्रेषण का एक पूर्वापर क्रम होता है, जिसे प्रकृति जैस उपादानो द्वारा मूर्त करना आसान होता है। लेकिन जिस काव्य बोध मे आधुनिक जटिल सवेदनाओ का पलडा भारी पडता हो वहाँ यह 'निरन्तरता सर्जनात्मक प्रेरणा मे फाँक ही पैदा करती है—एक उदाहरण—

> कहाँ है तुम्हारा घर ? अपना देश खोकर कई देश लाँघ
> पहाड से उतरती हुई
> चिडियो का झुण्ड
> यह पूछता हुआ ऊपर-ऊपर
> गुजर जाता है। कहाँ है तुम्हारा घर ?
> दफ्तर मे, होटल मे, समाचार-पत्र मे
> सिनेमा मे,
> स्त्री के साथ एक खाट म ? (बुखार मे कविता)

इसमे 'कहाँ है तुम्हारा घर ?' से अस्तित्ववादी अन्डरटोन लिये जो प्रश्न शुरू होता है और जो आगे की पक्तियो मे अधिक मूर्त होकर आता है उसके बीच पहाड से उतरती हुई चिडियो का बिम्ब शुरू के प्रश्न की अनलकृत शून्यता और बाद मे उसके और भी क्रूर विस्तार तथा उसम निहित सूक्ष्म व्यग्य को उसके गहन एव आकुल भाव-स्तर से खीचकर एक हल्के-फुल्के चित्रात्मक कुछ-कुछ रोमानी भाव-स्तर पर भटकाने की चेष्टा करता है। इस तरह के उदाहरण 'मायादर्पण' की अनेक कविताओ मे मिल जायेंगे जहां गहन आशयो को पक्तियो के बीच-बीच म पहाड, आकाश, सूर्य, पतझर, चिडिया, बादल, बसन्त आदि शब्द या इनमे बनने वाले बिम्ब या प्रतीक आ जाते हैं जिनस निर्मित काव्य ससार कवि के अधिक जटिल, सश्लिष्ट और यातनापूर्ण ससार के मुकाबले हल्का और भोला लगता है। यही हल्कापन इस उद्धरण मे एक दूसरे स्तर पर व्यक्त होता है —

हरेक की शर्म के पीछे
इतिहास है,
मगर रुको,
इतिहास
मैंने बी० ए० के बाद
छोड़ दिया था।

इस तरह की पंक्तियों में प्रायः 'गम्भीर' और 'अगम्भीर' को आमने सामने लाकर एक झटके के साथ नये व्यग्यार्थ की सृष्टि की जाती है। लेकिन यहाँ शुरू की दो पंक्तियों की 'गम्भीरता' के साथ बाद की चार पंक्तियाँ 'अगम्भीर' का मेल जुटाने के बजाय अप्रासंगिक लगने लगती हैं। ऐसे स्थलों पर—और ऐसे स्थल 'मायादर्पण' की कविताओं में कई है—लगता है खण्ड-लयों को पकड़ता चलता सर्जनात्मक तनाव एका-एक बीच में टूट गया हो और वहीं उत्तेजना के एक बिन्दु तक पहुँची हुई काव्य-संवेदना फिसलकर एकदम से सतह पर आ गयी हो, जैसे कवि उस तनाव को शुरू से अन्त तक बनाये रखने में असमर्थ हो। सतही होने का मतलब है जटिल भाव-संवेदनाओं को उनकी अनिवार्य अर्थ-सृष्टि के स्तर तक न ले जाकर उनका सरलीकरण कर देना। इस सरलीकरण का सतहीपन कभी श्रीकान्त वर्मा में व्यग्य के अति मुखर स्वर में व्यक्त होता है तो कभी मानव-सम्बन्धों (खास कर स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों) से उपजी भाव-प्रतिक्रियाओं में भरी हुई जरूरत से ज्यादा आक्रामकता म, और कभी सर्जनात्मक तनाव की भाषा की पटरी छोड़कर सर्जनात्मक तनाव-रहितता की अनाप-शनाप भाषा अपना लेने में। जितना ही अधिक श्रीकान्त वर्मा यह सरलीकरण करते हैं उतना ही अधिक उनकी मुद्रा 'आतंकित' करनेवाली होती जाती है और उसी अनुपात में वे आज के जटिल काव्य-परिवेश से दूर हटते जाते हैं, जिस पर अपना हस्ताक्षर छोड़ने के लिए वे गम्भीर रूप में सन्नद्ध नजर आते है (यही बात आज के अधिकांश 'आक्रामक' लेखन के बारे में भी है)।

सर्जनात्मक स्तर पर प्रासंगिक के बीच अप्रासंगिक के इस 'प्रक्षेप' को मद्देनजर रखते हुए ही शायद 'दिनमान' की टिप्पणी म श्रीकान्त वर्मा से समग्रता और निरन्तरता की कमी की शिकायत की गयी है। लेकिन जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है श्रीकान्त वर्मा की असफलता इस बात में नहीं है कि उनकी सर्जनात्मकता भावस्थितियों को उनके पूर्वापर क्रम में नहीं ग्रहण करती, बल्कि इस बात में है कि उनकी सर्जनात्मक प्रेरणा में अक्सर इंटिग्रिटी नहीं रह जाती। इस स्थिति का आभास मुझे अन्य कवियों की इधर प्रकाशित विशेष रूप से लम्बी कविताओं को पढ़कर भी हुआ है।

लेकिन यह एक प्रयोग है—एक संभावनापूर्ण विकल्प को अप्रसरित करने का प्रयोग। और इसी रूप में यह महत्वपूर्ण भी है और ग्राह्य भी। आज की सर्जनात्मक प्रतिभा अपने नय व्यक्तित्व की खोज इसी रास्ते पर चल कर कर सकती है, क्योंकि आज के युग की अप्रतिहत माँगें और उन्हें पूरा करने की जोखिमपूर्ण अनिवार्यताएँ इसी रास्ते से किसी एक बिन्दु पर मिल जाती हैं। [१९६८]

सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा

'खण्ड-खण्ड की सर्जनात्मकता' वाले निबंध में मैंने श्रीकान्त वर्मा की सर्जनात्मक प्रेरणा के संदर्भ में एक जगह 'इंटिग्रिटी' शब्द का इस्तेमाल किया है—कि श्रीकान्त वर्मा की सर्जनात्मक प्रेरणा में कहीं फाँक है, उसमें अक्सर 'इंटिग्रिटी' नहीं रह जाती। वहाँ जो बात सिर्फ संकेतों में उठाकर छोड़ दी गई थी उस पर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता है।

अन्तर्निष्ठा (इंटिग्रिटी) एक अर्थगर्भ शब्द है। इसमें यदि एक ओर नैतिक मूल्य-बोध की पहचान ध्वनित होती है तो दूसरी ओर यह शब्द मनोविज्ञान की भाषा में व्यक्तित्व के भावनात्मक एवं बौद्धिक संवेगों की जटिल बनावट तथा इनके सन्तुलन को व्यक्त करनेवाले अर्थ की भी छाप लिये हुए है। साहित्य अथवा कला की मीमांसा में जहाँ हमने और-और अनुशासनों के प्रत्यय लिये हैं, वहीं नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र से भी लिए हैं। यह अनिवार्य भी है, क्योंकि साहित्य और कला भी अन्य शास्त्रों-अनुशासनों की तरह एक व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया के ही अंग हैं। यह अवश्य है कि एक अनुशासन का प्रत्यय दूसरे अनुशासन के क्षेत्र में प्रवेश करने पर अपने मूल अर्थ की सम्पूर्णतः रक्षा नहीं कर पाता, उस पर से अर्थ की कुछ परतें उतर जाती हैं और कुछ नयी परतें चढ़ जाती हैं। 'अन्तर्निष्ठा' शब्द नैतिक अर्थ संदर्भ में एक निर्णय (जजमेंट) को सूचित करता है और मनोविज्ञान के अर्थ-संदर्भ में एक 'स्थिति' को। सर्जनात्मक साहित्य की विवेचना में अन्तर्निष्ठा का प्रत्यय इन दोनों ही अर्थच्छवियों को समेटकर चलता है। यहाँ अन्तर्निष्ठा के दोनों ही अर्थों को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति या कला पर लागू कर देखने पर बात को स्पष्ट किया जा सकता है।

कला की नैतिकता क्या है? सबसे पहली और सबसे आखिरी यह कि वह अपने अनुशासन पर दूसरा कोई अनुशासन हावी न होने दे। कला की उत्स-संवेदना और उसकी चरम अभिव्यक्ति के बीच अक्सर जो एक बीहड़ अन्तराल पाया जाता है उसके प्रत्येक बिन्दु या स्तर पर वह अपने प्रति सच्ची बनी रहे—जैसे घटाटोप अँधेरे में रोशनी की एक लौ पर टिकी अनिमिष आँख होती है। इस दूसरी तरह से कहें तो यह कि सर्जनात्मक तनाव बराबर बना रहे, क्योंकि सतत तनाव की स्थिति में ही आधुनिक कला अपने प्रति सच्ची बनी रह सकती है। और यह तनाव भी कैसा जो चरम अभिव्यक्ति के क्षण में ही कला-संवेदना को प्राग्-अभिव्यक्ति की आदिम स्थिति की ओर मोड़ दे? चाहें तो इसे

तनाव की गतिशीलता वह सत्त है, जो अन्तर्निष्ठा को उसके निर्णयात्मक मूल्य-बोधक अर्थ सदर्भ से उठाकर सर्जनात्मकता के सतत गतिशील सन्तुलन क्षेत्र म ला खडा करता है, जहाँ उसका अर्थ कला-सवेदना की प्रकृति और आकृति का माप बताना मात्र न होकर उसमे हिस्सा लेना और उनके विभिन्न सघटनो ममवायो को सक्रिय रूप से प्रभावित करना भी हो जाता है। अर्थात् सर्जनात्मक प्रेरणा म अन्तर्निष्ठा एक 'निर्णय' भी है और एक 'स्थिति' भी। बल्कि यह कहना ज्यादा सगत होगा कि सर्जनात्मक प्रेरणा म 'निर्णय' ही 'स्थिति' है, क्योकि यह 'स्थिति' एक सतत गतिशीलता की स्थिति है और 'निर्णय' इस गतिशीलता को बरकरार रखने की भूमिका अदा करता है, क्योकि वह सर्जनात्मकता की केन्द्रवर्ती धारा स तट की ओर बह आए कला सवदन की उपलब्धि को पुन केन्द्रवर्ती धारा की अर्थपूर्ण अराजकता की ओर ढकेलन का काम करता है। जैसे कि शब्द कला-सवेदना पर एक 'निर्णय' है, क्योकि वह कला सवेदना को परिभाषित, व्याख्यायित, रेखाकित या सीमाबद्ध करके उस एक अर्थवान सदर्भ प्रदान करता है। पर शब्द एक 'स्थिति' भी है, क्योकि रचना म वह एक ऐसा पारदर्शी तत्व है जो अग्रिम सवेदना के आयाम मे उस परिभाषित, व्याख्यायित, रेखाकित या सीमाबद्ध अर्थ को गतिशील, अत अराजक और सभावनापूर्ण बनाता है।

इस तरह कुल मिलाकर अन्तर्निष्ठा रचनाकार-व्यक्तित्व की सघटना-विशेष को ही व्यक्त करती है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक सर्जनात्मकता के सदर्भ म अन्तर्निष्ठा का अर्थ अपेक्षाकृत अधिक जटिल और सश्लिष्ट हो जाता है। हम यह स्वीकार करके चलते हैं कि ऊपर हमने अन्तर्निष्ठा को जिस रूप मे परिकल्पित किया है वह आधुनिक सर्जनशीलता के सदर्भ मे उठे प्रश्नो को समझने तथा विश्लेषित करने म ही अधिक सगत एव अर्थपूर्ण ठहरता है। अत अन्तर्निष्ठा की इस विशेष अर्थ बिंदु से चर्चा को आगे बढ़ाते हुए हम यह कह सकते हैं कि रचनाकार-व्यक्तित्व की अन्तर्निष्ठा का यह अर्थ नही है कि वह व्यक्तित्व कला-सृजन के उपजीव्य भाव स्थितियो को उनके पूर्वापर क्रम मे ग्रहण तथा सजित करता है, बल्कि यह है कि वह व्यक्तित्व सर्जनात्मक तनाव को सतत एव प्रतिक्षण विस्फोट होते रहने वाले प्रवाह के रूप मे अक्षुण्ण बनाय रख सकता है। यह सही है कि सर्जनात्मक तनाव का प्रत्यय सृजन-प्रक्रिया सम्बन्धी बहस के दौरान पिछले कुछ सालो से ही हिन्दी मे प्रयुक्त होने लगा है, पर किसी भी युग के सार्थक रचनाकार की सृजन प्रक्रिया के विश्लेषण मे सामान्य अर्थ मे तो उसका प्रयोग किया ही जा सकता है। यहाँ वस्तुस्थिति का अन्तर 'सर्जनात्मक तनाव' शब्द के पहले प्रयुक्त न होने और अब होने लगने म उतना नही जितना कि सर्जनात्मक तनाव की प्रकृति म अन्तर आ जाने मे है। इस अन्तर को नाट्य-रचना के एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। नाट्य-रचना का उदाहरण केवल इसलिए कि उसम अन्य रचना-प्रकारो की बनिस्बत 'तनाव' अधिक मुखर रूप से निर्णयात्मक भूमिका अदा करता है। प्राचीन नाट्य-रचनाओ मे तनावपूर्ण गम्भीर आशय वाले दृश्यो के बीच-बीच म अवसर हल्के फुल्के भिन्न स्तर के दृश्य होते थे जिन्हे 'कामिक रिलीफ' के नाम स जाना जाता है। शेक्सपियर के 'मैकवेथ'

म दो तनावपूर्ण दृश्यो के बीच 'पार्टर नाविग सीन' या 'किंग लियर' के बीच बीच मे विदूषक वाले दृश्य इसी प्रकार के कामिक रिलीफ के दृश्य हैं। दो तनावपूर्ण स्थितियो के बीच का यह अन्तराल नाट्य-रचना के स्थूल आकार (और भावक पर पडने वाले उसके प्रभाव) मे ही नही घटित होता, वरन् रचनाकार-व्यक्तित्व की सर्जनात्मकता के स्तर पर भी घटित होता है। निश्चय ही सर्जनात्मकता के सम्पूर्ण 'स्वर' (टोन) म इससे कोई विसवादी स्वर नही उत्पन्न होता, पर यह अन्तराल सर्जनात्मक तनाव की गतिशीलता के एक के पठार प्रकार को व्यक्त करता है। यह दूसरी बात है कि यह सप्रयोजन होता है और प्रयोजन यह होता है कि यह अन्तराल रचना की मूल गम्भीर एव तनावपूर्ण भाव विचार-सवदना को और भी प्रबल और पुष्ट कर दे। यहाँ हमारा आशय केवल यह बताना है कि इस प्रकार के सर्जनात्मक तनाव का प्रवाह अथवा सचरण गति बहुत-कुछ विषय-वस्तु द्वारा उत्थान-पतन की दिशा म सचालित होती है, दूसरे शब्दो म यह कि उस सर्जनात्मक तनाव का स्रोत पूरी तरह रचनाकार के व्यक्तित्व के भीतर निहित नही होता, और यही कारण है कि वह उस तनाव को एक मूर्त्त, वस्तुपरक एव व्यक्ति निरपेक्ष रचना म सक्रमित कर सकता है, क्योकि वह उस तनाव को नियमित कर सकता है। इसे यो भी कह सकते हैं कि इस प्रकार की सर्जनात्मकता म रचनाकार भाव-विचार सवेदन की स्थितियो को उनके पूर्वापर क्रम मे ग्रहण करता है इसी से उसके सर्जनात्मक तनाव का समाहार एक परिपूर्णता तथा समग्रता के प्रभाव म होता है। त्रासदी मे यह परिपूर्णता करुणा अथवा निर्वेद के रूप म और सुखान्तकी म आह्लाद के रूप म होती है। प्रभाव के इस स्तर पर सर्जनात्मक प्रक्रिया अपनी यात्रा समाप्त कर एक गतव्य तक पहुँची हुई होती है। भावक को वह अगली किसी सभावित यात्रा का सकेत देकर नही छोडती। हाँ, भावक चाहे तो यह एक बार तय की हुई यात्रा दुबारा अन्त से आरम्भ की ओर फिर से शुरू कर सकता है। ऐसे म यह रचना कृति की शक्ति और रचनाकार की प्रतिभा की महानता मानी जायेगी कि भावक यह यात्रा दुबारा करने को प्रेरित और बाध्य हो जाता है। इस 'उल्टी' यात्रा मे अर्थ की प्रतीति और सवदनाओ के प्रभाव चिह्न और भी गहरे होते जाते है, कलाकृति का मर्म और भी सुदृढ, विशद और गम्भीर होता जाता है। एक अर्थ मे भावक की कलाकृति की 'समझ' भी अधिक पैनी और गहरी होती जाती है। पर अन्तत यह यात्रा एक पिछली तय की हुई यात्रा ही है। इसे चाहे जितनी बार दुहराओ उससे अनुभूति म कोई मूलभूत गुणात्मक परिवर्तन नही आयेगा, गहरा और क्लासिक-क्रिस्टल चाहे भले हो ले। सर्जनात्मक प्रश्नशीलता के जिस दौर से एक बार आप रचना म यात्रा करके गुजर चुके है वह आपको बार बार मथ सकती है केवल इसलिए कि आपके भाव सवेदन अधिक पक कर, अधिक तप कर एक परिपुष्ट धरातल तक पहुँच सके। उस सर्जनात्मक प्रश्नशीलता म नया नया विस्फोट नही होता रहेगा जो आपके भाव सवदन को एक हमेशा आन्दोलित रहने की स्थिति मे बनाये रख सके, कि आपको लगे कि यात्रा के दौरान आप प्रश्नशीलता के एक अन्तराल से निकल कर दूसरे अन्तराल म प्रवेश कर रहे है।

यह सतत आन्दोलित रख सकने की स्थिति जिस प्रकार के सर्जनात्मक तनाव की अपेक्षा रखती है वह पहले प्रकार के सर्जनात्मक तनाव से भिन्न है। इलियट के 'मर्डर इन द कैथीड्रल' मे की गई यात्रा का कोई अन्त नही है। 'वेस्ट लैंड' (जो अपनी भाव-विचार-संवेदना मे किसी भी त्रासदी की परिकल्पना का सारा विस्तार और सगठन लिए हुए है) का भी कोई अन्त नही है—अन्तिम प्रकरण के शान्तिपाठ के बावजूद। इन कृतियो मे सर्जनात्मकता के सचरण की गति एक सीधी रेखा के समान नही है जिसमे कि हर चरण प्रभाव को महज गहरा और पुष्ट करता जाता हो, वरन् चक्राकार है—उसकी छोटी-छोटी सर्किटें है जो टूट-टूट कर बनती हैं, बन बन कर टटती हैं—'इन माई बिगनिंग इज माई एंड'—यात्रा किसी भी सामजस्य के धरातल पर समाप्त नही होती, बल्कि हमे आगे किसी अलक्ष्य अर्थ-ससार के अंधकार मे छोड देती है।

यहाँ अन्तर्निष्ठा और सर्जनात्मक तनाव के सम्बन्ध को कुछ और पहलुओ से भी देख लेना सगत होगा। यदि हम यह कह कि जिस प्रकार की सर्जनात्मकता भाव-स्थितियो को उनके पूर्वापर क्रम मे ग्रहण करती है उसम भी अन्तर्निष्ठा हो सकती है, तो इसका अर्थ केवल यह होगा कि रचनाकार का तनाव उसके नियत्रण मे है, उसकी भाव-सवेदनाओ को उसकी वस्तुपरक परिकल्पनाओ (जो 'मूल्य'-सम्बन्धी भी हो सकती हैं और 'दृष्टि'-सम्बन्धी भी) तथा रचना-विधागत सरचनात्मक अवधारणाओ का एक मूर्त/अमूर्त बाह्य ढाँचा (सुपरस्ट्रक्चर) घेरे हुए है और दोनो के बीच एक 'आकुल समानान्तरता' है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि उस सर्जनात्मक तनाव का अस्तित्व इसलिए नही है कि भाव-सवेदनाओ और उस बाह्य ढाँचे मे कोई परस्पर काट का द्वन्द्व अथवा अन्त सघर्ष है, बल्कि यह तनाव सिर्फ इसलिए है कि भाव-सवेदनाएँ उस बाह्य ढाँचे से 'सामजस्य' स्थापित करने को व्याकुल होती हैं—जैसे पानी अपने धरातल तक पहुँचने को व्याकुल होता है। यहाँ रचना मे अन्तर्निष्ठा का मापदड यह है कि वह व्याकुलता परोक्ष या अपरोक्ष रूप से समाप्त न हो, रचनाकार अपनी इस व्याकुलता से चाहे जितना 'खेले', चाहे कला-रूपो एव शिल्प प्रयोगो के कितने ही 'करतब' दिखाए, अन्तिम प्रभाव-सृष्टि के लिए कितनी ही ऊँचाइयो और नीचाइयो मे उसे पटके पर उस व्याकुलता को अपने हाथ से जाने न दे, उसकी आग मे अपनी भावनाओ-कल्पनाओ की आहुति निरन्तर देता रहे यानी उस व्याकुलता के सर्जनात्मक तनाव को हमेशा अपने वश मे रखे। जहाँ ऐसा नही होता—जहाँ वह तनाव रचनाकार के वश म नही रह सकता—वहाँ सर्जनात्मकता के सदर्भ मे अर्तनिष्ठा का प्रश्न ही अप्रासगिक हो जाता है। इस प्रकार की सर्जनात्मकता मे तनाव को वश मे रख सकने के लिए रचनाकार प्राय. अमूर्तन का सहारा लेता है—वह जीवनानुभवो को प्रत्यक्ष साक्षात्कार के स्तर पर नही झेलता/निबटता बल्कि उन्हे हमेशा एक ऐसे दृष्टि-फ्रेम के भीतर से ग्रहण करता है जिसके निर्माण मे कभी उसकी 'मूल्य'-सम्बन्धी मूर्त/अमूर्त धारणा काम कर रही होती है तो कभी 'मानव-आदर्शवाद' का उदात्त पक्ष। इसका यह मतलब नही है कि 'मूल्य' और 'आदर्शवाद' को वह अपनी जीवनानुभूतियो पर आरोपित करता है, बल्कि यह कि इनके माध्यम

से ही—इसकी प्रक्रिया में से गुजरते हुए ही—वह जीवनानुभावों को ग्रहण करता है। प्रयोगवाद नयी कविता के दौर में 'सौन्दर्यात्मक दूरी' की चर्चा अक्सर बलपूर्वक की जाती थी, जो प्रकारान्तर से उस तनाव को वश में रख सकने की ही बात है। जो इस तनाव को वश में रख सकता था वह समर्थ-सफल रचनाकार होता था, जो नहीं रख पाता था वह सौन्दर्यच्युत असफल, असमर्थ। अज्ञेय द्वारा 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में प्रतिपादित 'तथ्य' और 'सत्य' के अन्तर को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। जीवन के तीखे यथार्थ-अनुभव को झेलने में भी एक नियंत्रित कलाभिरुचि का परिचय देना होता था, रूपाकार से ही काव्य की आत्मा की महत्ता आँकी जाती थी, भाषा को संस्कार की आँच में तपाना होता था, विह्वलता में भी छन्द और आवेश में भी लय का होना गुण था, बिखराव की अपेक्षा कसाव और चाहे एक बार लक्ष्य साफ न भी हो फिर भी भाव संरचना की सफाई पर बल देना रचनाकार की शक्ति और सामर्थ्य के परख की कसौटी थी।

तनाव को वश में रख सकने और वश में न रख सकने की स्थिति के संदर्भ में नयी कविता-काल के दो कवियों—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और लक्ष्मीकान्त वर्मा—की तुलना यहाँ प्रासंगिक और रोचक सिद्ध होगी। दोनों ही निम्न मध्यवर्ग के घर गृहस्थी, बीवी-बच्चे चूल्हा-चक्की और टिकुली-बेंदी वाले कवि हैं, दोनों ही अपने 'दर्द' की अभिव्यक्ति के लिए दूर की कौड़ी नहीं लाते, बल्कि मानव-जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों स्थितियों संदर्भों को चुनते हैं यथार्थ के प्रति दोनों ही तीव्र भावानुभूति के स्तर पर प्रतिक्रिया करते हैं दोनों की भाषा जनजीवन की बोलचाल की भाषा के निकट है। पर सर्वेश्वर कगार के अन्तिम बिन्दु तक जाकर भी लौट आने की होशियारी से वाकिफ हैं, जबकि लक्ष्मीकान्त अक्सर बेखबरी में खाई में ही जा गिरते हैं। एक तनाव को आवश्यक छूट देते हुए भी उसे वश में रख सकता है, जबकि दूसरा प्रायः उसका अन्त तक निर्वाह नहीं कर पाता—उसका तनाव या तो आवेश में बदल जाता है या फिर तनावरहित सपाटपन में। सर्वेश्वर के पास जो दृष्टि-फ्रेम है वह इतना सूक्ष्म और तरल है कि अक्सर वह दृष्टि फ्रेम रह ही नहीं जाता (फलस्वरूप वे कहीं कहीं शुद्ध भावकता के कवि नजर आने लगते हैं), अतः उसके प्रति निष्ठा कायम रखने के प्रश्न से वे विचलित नहीं होते, लक्ष्मीकान्त के पास जो दृष्टि फ्रेम है वह उन्हें हमेशा ललकारता रहता है और गिरते पड़ते भी वे उसको आँख की ओट नहीं कर पाते। सर्वेश्वर तनाव को अपने भाव यंत्र से एक खास दूरी पर बनाये रखने में इतने माहिर हो गये हैं कि वे ऐसी सजी-सँवरी मार्मिक कविताएँ निरन्तर लिखते चले जा सकते हैं जो जोखिमपूर्ण मानव-अस्तित्व की किसी बुनियादी अराजकता को न उकेरें, जबकि लक्ष्मीकान्त की ट्रैजेडी यह है कि वे बार-बार उस बुनियादी अराजकता से टकराते हैं, पर जब उसे व्यक्त करते हैं तो नितान्त समसामयिक' लगने लगते हैं। तनाव को वश में रख सकने के कारण सर्वेश्वर में जो सौन्दर्यात्मक रुझान लोक-सम्पृक्ति के अनगढ़ खुरदरे अंशों की मिलावट में शुरू में गड्डमड्ड था, वह क्रमशः साफ, संयत और 'तुकान्त होता गया, जबकि तनाव को सर्वत्र काबू में न रख पाने (कभी-कभी इसकी चेष्टा-मात्र में विद्रोह कर उठने) के कारण लक्ष्मीकान्त का सौन्दर्यात्मक रुझान कभी

भी उनकी यथार्थ संवेदना के साथ एकाकार नहीं हो सका और हमेशा 'अतुकान्त' ही रहा। किन्तु वह सर्वेश्वर का तनाव को वश में रख सकना और लक्ष्मीकान्त का तनाव को पूरी तरह वश में न रख सकना दोनों ही एक मुद्दा बन गये हैं।

जिसे मैं दूसरी प्रकार की सर्जनात्मकता कहता हूँ उसमें तनाव और अन्तर्निष्ठा के रिश्ते कहीं ज्यादा खतरनाक, क्योंकि पहले प्रकार की सर्जनात्मकता की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल होते हैं। उसकी जटिलता का रूप कुछ इस तरह है कि तनाव की सजनात्मक प्रक्रिया में अपने भावयन्त्र से सब-कुछ ग्रहण करते हुए मैं एक शब्द लिख दूँ और उस स्थिति का सारा दबाव झेलते हुए काफी देर बाद और कुछ न लिखकर सिर्फ उस शब्द को काट दूँ तो लगे कि मैंने सचमुच कोई नया शब्द लिखा है। दो शब्दों के बीच वह कटा हुआ शब्द दरअसल एक 'अन्तराल' है जो रचनाकार की अन्तर्निष्ठा की कसौटी बनता है, क्योंकि वह अन्तराल न-कुछ नहीं है, न ही एक सादा फलक है जिसकी पृष्ठभूमि में कुछ विदूषक चेहरे अपनी रंग-बिरंगी कलाबाजियाँ दिखा जाएँ। वह न अन्तराल एक अग्रिम लम्बी छलाँग के लिए ठिठकी हुई कसी हुई सर्जनात्मक मुद्रा है। इसमें रचनाकार की क्षमता उस अन्तराल की अर्थगर्भिता को पहचानने और प्रक्षेपित करने में है और उसकी अन्तर्निष्ठा उस अन्तराल को सपाट न हो जाने देने में। सर्जनात्मक तनाव के प्रवाह में इस प्रकार का प्रत्येक अन्तराल नये-नये अर्थ-विस्फोटों के लिए अवसर प्रदान करता है। इसके साथ ही यदि उस अवसर का उपयोग करने की सामर्थ्य न हुई तो यह एक खतरनाक कगार भी साबित हो सकता है। काव्य-रचना का उदाहरण लें तो नया अर्थविस्फोट करने के अवसर का उपयोग कर पाने की सामर्थ्य न होने पर उस 'अन्तराल' में भाषा निश्चित अर्थ देने लगती है, वह ठोस 'स्फटिक' (क्रिस्टल) हो जाती है, उसका वह लचीलापन समाप्त हो जाता है जो उस अन्तराल के आर-पार सर्जनात्मक तनाव के एक छोर को दूसरे छोर से जोड़ता है। भाषा के सदर्भ में जिसे हम 'अभिधा' या 'सपाटपन' कहते हैं उसका यही अर्थ है। आशा है प्रस्तुत प्रसंग में अलंकरणयुक्त सपाट भाषा और भाषा के सपाटपन का जो अन्तर है वह यहाँ स्पष्ट होगा।

तनावगत अन्तराल को सपाट न होने देकर अन्तर्निष्ठा की रक्षा करने के पीछे एक और आधार है जिससे स्थिति की जटिलता पर प्रकाश पड़ता है। पहले प्रकार की सर्जनात्मकता में शब्द को अर्थ से जोड़ने की चेष्टा होती है, यह मान लिया जाता है कि शब्द और अर्थ के बीच कोई दीवार है जिसे विस्फोटक से उड़ा देने की जरूरत है, शब्द में नये अर्थ भरने का प्रयत्न होता है या फिर पुराने शब्दों से नये अर्थ का आविष्कार किया जाता है। एक तरह से यह भाषा के अर्थ-विस्तार की ही प्रक्रिया है। किन्तु दूसरे प्रकार की सर्जनात्मकता में अर्थ को शब्द से 'जोड़ा' नहीं अर्थ को शब्द से 'मुक्त' किया जाता है क्योंकि इसमें भाषा जिह्वा पर नहीं दाँतों के बीच की जगहों से सटी हुई होती है। यह भाषा के अन्त स्फोट की क्रिया है। शब्द से अर्थ के मुक्त होने की क्रिया में भाषा की प्रचलित दो इकाइयों के बजाय भाषा की तीन इकाइयाँ बनती हैं शब्द और अर्थ के साथ दोनों के बीच का अन्तराल तीसरी इकाई होता है, और भाषा वस्तुतः शब्द और अर्थ के

सह-सम्बन्ध से नही बल्कि इन तीनो के सह-सम्बन्ध से बनती है। शब्द और अर्थ की दो इकाइयो वाली भाषा मे शब्द और अर्थ के बीच या तो दीवार होती है जो दोनो को अलग रखती है या फिर वह दीवार नही होती। रचनाकार को चेष्टा यही रहती है कि वह दीवार यदि है तो न रहे—शब्द और अर्थ जो अलग-अलग हो गये हैं वे एक हो जाएँ। यह चेष्टा उसी तरह है जिस तरह उसका यह चाहना कि उसकी भाव-सवेदना और उसको घेरे हुए मूर्त्त/अमूर्त्त बाह्य ढाँचे की अनन्त समानान्तरता सामजस्य मे परिणत हो जाए दोनो एक हो जाएँ। किन्तु तीन इकाइयो वाली भाषा मे शब्द और अर्थ कभी भी एकाकार होकर सघन 'स्फटिक' (क्रिस्टल) नही बनते, दोनो के सम्बन्ध मे हमेशा और अनिवार्यत कुछ न कुछ 'छट' जाता है। यही 'अन्तराल' है। यह अन्तराल आज के स्व-चेतनता के युग मे रचनाकार की अपने परिवश के साथ लगाव (इवाल्वमेट) ही है जो शब्द और अर्थ को अभिन्न रूप से एक नही होन देता। परिवेश के प्रति सजगता और उसस लगाव व्यक्ति को विकेन्द्रित करता है, और जिस हद तक यह लगाव तीव्र होगा विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया भी उसी हद तक तीव्र होगी। और चूँकि व्यक्ति परिवेश के साथ अपने सम्बन्ध को भाषा के माध्यम से ही अनुभूत करता है इसलिए उसके विकेन्द्रीकरण के साथ भाषा भी विकेन्द्रित होती जाती है। व्यक्ति के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को निर्वासन' (एलिएनेशन) से 'आत्मनिर्वासन' (सेल्फ एलिएनेशन) की ओर ले जाती है जिस पर आग विचार किया जाएगा। यहाँ पहले भाषा के विकेन्द्रीकरण और रचनाकार की अन्तर्निष्ठा के सवाल को नजदीक से देख लेना होगा।

भाषा के विकेन्द्रीकरण म पहली जानी-पहचानी स्थिति तो वह होती है जिसमे *शब्दो का प्रचलित अर्थ नष्ट हो जाता है और उसके बजाय दूसरा अर्थ ध्वनित होने लगता* है। कहा जा सकता है कि यह स्थिति भाषा के अर्थ विस्तार और अर्थ सम्पन्नता के लिए आवश्यक है। इससे भाषा एक धुरी स हटने के बाद दूसरी नयी धुरी पर जा टिकती है। भाषा के विकन्द्रीकरण का यह रूप सामान्यत युग बोध मे प्रत्येक परिवर्तन के साथ घटित होता रहता है। लेकिन भाषा के विकेन्द्रीकरण की एक स्थिति यह भी हो सकती है जिसमे शब्द प्रति शब्द बन जात हैं और अर्थ प्रति-अर्थ। ऐसी भाषा मे शब्द अर्थ द्वारा अपनी सत्ता को प्रकट नही करते —क्योकि अर्थ वस्तुओ को ग्रहण करने की एक सघटित बोधात्मक इकाई है—बल्कि सकेतो द्वारा प्रकट करते हैं। यह भाषा के आदिम रूप अथवा भाव सवदना की प्राग्-अभिव्यक्ति के अराजक रूप की ओर प्रत्यावर्तन है जिसकी ओर इस लेख के आरम्भ म इशारा किया गया था। भाषा का यह अराजक रूप यात्रा का आरम्भ भी हो सकता है और यात्रा का अन्त भी। आरम्भ की स्थिति रचनाकार की इस सामर्थ्य पर निर्भर करती है कि वह उन 'सकेतो' को इतना परामर्शी बना दे कि उनकी अलग-अलग इकाइयाँ किसी नये सर्जनात्मक बोध के एक चित्र को पूरा करती-सी लगने लगें। और यात्रा का अन्त तनाव के अन्तिम बिन्दु के बाद पहुँचे तनावहीन ढलान पर ठहर जान मे है।

यह शब्द से प्रति शब्द और अर्थ से प्रति-अर्थ तक जाने की स्थिति कुल मिलाकर

एक दुविधापूर्ण सभावना की स्थिति है, जिसका सैमुएल बेकेट के उपन्यास अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु प्राय इस सभावना के अन्वेषण की चेष्टा पर भाषा के विकेन्द्रीकरण से स्वत चल पड़ी विघटन प्रक्रिया का दबाव हावी हो जाता है और फलस्वरूप रचना मे शब्द प्रति-शब्द और अर्थ प्रति-अर्थ बनने की स्थिति का अतिक्रमण कर 'शब्दहीन' और 'अर्थहीन' बन जाते हैं। ऐसे मे रचना की बुनियादी सर्जनात्मकता ही सदिग्ध लगने लगती है। इस प्रकार के रोचक उदाहरण देखने सुनने मे आये हैं जब पाठक को रचना' के नाम पर कोरे अनछपे पृष्ठ ही मिले हैं। अभी कुछ साल पहले साहित्य अकादमी लिटरेरी फोरम नयी दिल्ली की एक गोष्ठी मे स्वीडिश कवि गुन्नार रिद्स्ट्रोम ने एक कविता 'पढी थी जिसमे अर्धविरामो, पूर्णविरामो, डैश, कोलन, प्रश्नवाचक-विस्मयबोधक चिह्नों और कोष्ठको के अलावा कुछ न था। चित्रकला में यदि रग को भाषा का पर्याय मानें तो रग के साथ-साथ रेत, लकडी, बुरादा, कील-कांटे, चमडा टिन चिथडे आदि चीजो के प्रयोग की प्रवृत्ति को शब्द से प्रति शब्द और अर्थ से प्रति-अर्थ की ओर जाने की रचनात्मक स्थिति का ही चिह्न मानना होगा। क ख ग ६ (जुलाई १९६५) म प्रकाशित मुद्राराक्षस की 'एकमर्ड कविताएँ' भी भाषा के इसी विकेन्द्रीकरण का नमूना है जिसमे शब्दो मे बनने वाले अर्थ की सघटित बोधात्मक इकाई को अपर्याप्त या व्यर्थ मान लिया गया है। यह कुछ अजीब लग सकता है कि भाषा का पूर्ण विकेन्द्रीकरण जहाँ रचनाकार के अपने परिवेश से साथ सम्पूर्ण लगाव की उपज होता है वही यह इस बात का भी द्योतक होता है कि रचनाकार सर्जनात्मक तनाव से दूर से दूरतर जाना चाहता है। अत विकेन्द्रित भाषा मे रचना तनाव मे नही तनाव से मुक्त होने मे होती है, और पूर्ण रूप से विकेन्द्रित भाषा तनावरहित भाषा होती है।

परिवेश के प्रति लगाव, सर्जनात्मक तनाव और भाषा के विकेन्द्रीकरण के परस्पर सम्बन्ध को एक दिलचस्प वैज्ञानिक क्रिया द्वारा समझा जा सकता है। एक निश्चित एव स्थिर तापमान पर जब पानी निरन्तर ठण्डा होता चला जाता है तब एक बिन्दु ऐसा आता है जब यह बर्फ बन जाता है। बर्फ बनने के बिन्दु के पहले तक पानी सिकुड़ता' है, पर उस बिन्दु पर पहुँच जाने के बाद एकदम से ठोस होकर 'फैल जाता है। बर्फ बन जाने पर पानी का घनत्व कम और आयतन बढा हुआ होता है, और हालांकि उस अन्तिम बिन्दु तक ठण्डे हुए पानी का तापमान बाद म बन गये बर्फ के तापमान के समान ही होता है एक चीज और घटित होती है - बर्फ म परिवर्तित होने की प्रक्रिया म पानी से उसमे निहित ऊष्मा, जिसे वैज्ञानिक शब्दावली मे 'लेटेन्ट हीट' कहते हैं, बाहर निकल जाती है। इस उदाहरण को एक रूपक की शक्ल देते हुए सर्जनात्मक तनाव को तापमानक तत्व मान लें और परिवेश के प्रति लगाव की स्थिति को तापमान-प्रभावित पानी, तो भाषा (अथवा रचनाकार-व्यक्तित्व) के विकेन्द्रीकरण को उस तनतनाव बिन्दु मे इधर उधर 'सिकुडने' और 'फैलने' की दो वैकल्पिक स्थितियो के अन्तर्गत रख कर सहज ही देखा जा सकता है। जाहिर है कि रचना के भीतर, चाह भाव विचार सवदन के स्तर पर या भाषा-सरचना के स्तर पर, सर्जनात्मक तत्वा का कोई

भी नया सार्थक संघटन उस 'खतरनाक बिन्दु' के पहले तक ही, जबकि सर्जनात्मक तनाव और परिवेश के प्रति लगाव का क्रिया प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' सर्वाधिक होता है, संभव हो सकता है। उस 'खतरनाक बिन्दु' को पार कर जाने पर सर्जनात्मक तत्वों का संघटन बिखर जाता है। और पानी के 'लेटेन्ट हीट' की तरह रचना से 'तनाव' निकल जाता है और भाषा (तथा रचना भी) तनावरहित और सपाट हो जाती है। रचनाकार की अन्तर्निष्ठा यहाँ इस बात में है कि वह सर्जनात्मक तनाव तथा परिवेश के प्रति अपने लगाव के क्रिया-प्रक्रियात्मक 'दबाव' को उस 'खतरनाक बिन्दु' के पहले तक शिद्दत से अपनी रचना के लिए महसूस करे। जिस प्रकार की सर्जनात्मकता में प्रेरणा का स्रोत रचनाकार के व्यक्तित्व में ही निहित हो—जहाँ उसे किसी बाह्य मूर्त / अमूर्त ढाँचे का सहारा भी न हो—वहाँ इस अन्तर्निष्ठा का निर्वाह रचनाकार के लिए अपरिहार्य सर्जनात्मक मूल्य का रूप धारण कर लेता है।

ऊपर के विवेचन में तनाव और परिवेश के प्रति लगाव के क्रिया-प्रतिक्रियात्मक 'दबाव' का पहलू थोड़े स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। परिवेश के प्रति लगाव का क्या अर्थ है और यह किस तरह रचनाकार व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करता है? परिवेश की चेतना व्यक्ति को उसमें अपनी स्थिति के प्रति भी चेतन बनाती है। इस स्वचेतना के साथ उसके सामने जटिल एवं गहन अनुभवों का एक नया संसार ही खुलने लगता है। यह संसार आवश्यकतया व्यक्तिगत अनुभवों का संसार नहीं होता, बल्कि व्यक्तिगत, सामाजिक और आध्यात्मिक अनुभवों का एक संश्लिष्ट संसार होता है। व्यक्ति जितना परिवेश के प्रति जुड़ता जाता है उतना ही इस जटिल संश्लिष्ट अनुभवों के संसार के प्रति भी जुड़ता जाता है। रचनाकार के लिए यह स्थिति ही तनाव का उत्स बनती है, और परिवेश के प्रति लगाव के साथ—और चेतना पर उसके कारण स्पष्ट से स्पष्टतर अंकित होते जाने वाले जटिल अनुभव-संसार के साथ—यह तनाव भी बढ़ता जाता है। व्यक्ति और परिवेश के इस दुहरे सम्बन्ध बोध वाली सर्जनात्मकता की परिणति अनुभूति-सम्पन्नता या अनुभूति समग्रता में नहीं होती (जोकि एक सामंजस्य पा लेने की स्थिति है) बल्कि उसकी परिणति उस दुहरे सम्बन्ध बोध से उपजने वाले तनाव को बरकरार रखने में होती है। इस सर्जनात्मक तनाव के निरन्तर दबाव में नये नये अर्थों का अन्तःस्फोट ही वस्तुतः रचनाकार-व्यक्तित्व का विकेन्द्रीकरण है, जिसमें प्रत्येक अन्तःस्फोट नये तनाव की ऊर्जा की सृष्टि करता है और तनाव की यह ऊर्जा व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध को एक स्थिर सामंजस्यपूर्ण-गरिमा की निष्पत्ति के केन्द्र से हटा कर एक सतत विकसनशील सम्बन्धबोध की संभावनापूर्ण जटिलता में डालती रहती है। यहाँ *'जटिलता' एक अर्थपूर्ण स्थिति का संकेत करता है—'जटिलता' एक ऐसा बैरोमीटर है* जो एक ओर तो सर्जनात्मक तनाव के दबाव को अंकित करता रहता है और दूसरी ओर उस अन्तर्निष्ठा की ओर भी संकेत करता है जो उस दबाव को 'खतरनाक बिन्दु' से आगे न गुजर जाने देने की सामर्थ्य का प्रतीक है। इस स्तर पर 'जटिलता' और 'अन्तर्निष्ठा' एक ही सिक्के के दो पहलू बन जाते हैं। सर्जनात्मक तनाव और उसके

जटिल प्रारूपों की परस्पर कशमकश में दर्द के हद से गुजर कर दवा हो जाने की स्थिति भी आ सकती है। लेकिन तब वह ऐसी दवा होगी, जिसे किसी भी परचून की दुकान में खरीदा जा सके, उसके लिए दर्द का सर्जनात्मक संदर्भ और अन्तर्निष्ठा का प्रश्न समाप्तप्राय होता है—तनावरहित सपाट रचना के बारे में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न बेमानी होता है। तनावहीनता की स्थिति अ-जटिलता की भी स्थिति है, जिसमें रचना का नियमन या तो शुद्ध संवेग करने लगते हैं या फिर असंश्लिष्ट भाव अथवा विचार-वृत्तियाँ। हिन्दी के सार्थक युवालेखन के सन्दर्भ में अन्तर्निष्ठा का प्रश्न इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो उठता है क्योंकि उसका अधिकांश अब भी रचनाकार-व्यक्तित्व के विकेन्द्रीकरण की अनिश्चयपूर्ण सर्जनात्मक सम्भावनायुत क्षेत्र-परिधि से गुजर रहा है। अपने परिवेश के प्रति अधिकाधिक लगाव आज के युवा लेखक की नियति है, पर तनाव-हीनता के खतरे भी पहले की अपेक्षा आज कहीं आज कहीं अधिक बढ़ गये हैं।

[१९६६]

सर्जनात्मक लेखन में भाषा का बदलता हुआ रूप

भाषा पर विचार करते समय उसका जो एक सर्वस्वीकृत-सा रूप हमारे सामने आता है वह यह कि भाषा अभिव्यक्ति का—मानव अनुभूतियों को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक ले जाने का माध्यम है। भाषा के संदर्भ में कृतिकारों को जब-जब सर्जनात्मक संकट का बोध हुआ है तब तब वह इस रूप में ही व्यक्त हुआ कि कृतिकार जो अभिव्यक्त करना चाह रहा है वह नहीं हो पाता या वह कुछ हो पा रहा है जो वह नहीं चाहता। और संकट के ऐसे प्रत्येक अनुभव-क्षण में कृतिकार अपनी आस्तीनें चढ़ा कर और मुक्का तान कर भाषा पर पिल पड़ा है, उसमें जरूरी या गैर-जरूरी तोड़-फोड़ की है और उससे बलात् वह कुछ 'कहलवा' लेना चाहा है जो उसका मंशा है। भाषा उसके लिए हमेशा से एक ऐसी रत्नगर्भा धरती रही है जिसमें जितनी दूर तक प्रतिभा की फावड़ा खुदाई जायगी वह उतना ही प्रभूत मात्रा में रत्न देगी। यहाँ ध्यान देने की बात सिर्फ इतनी है कि अब तक भाषा का अस्तित्व प्राय कृतिकार-व्यक्तित्व से पृथक नहीं माना जाता था, बल्कि सामान्य रूप से आग्रह तो इस बात पर भी रहा है कि एक समर्थ रचनाकार के पास उसकी एक विशिष्ट भाषा भी होनी ही चाहिए जिस पर उसके स्वामित्व की स्पष्ट छाप हो। ऐसा कभी नहीं हुआ, जैसा कि आज हो गया लगता है, कि भाषा अपने रचना-प्रयोग का एक विकास-क्रम पूरा कर चुकने के बाद कृतिकार-व्यक्तित्व के एक निर्वैयक्तिक बोध-स्तर पर कृतिकार से छिटक कर दूर आ खड़ी हो और उससे बड़ी हो जाय—भाषा के सन्दर्भ में इस कोटि का सर्जनात्मक संकट बोध कि भाषा सृजन-कर्म का साधन न रह सके वरन् सृजन-कर्म की सहकर्त्री बन जाय—कभी-कभी सृजन का पर्याय ही बन जाय।

खड़ी बोली हिन्दी को सृजन की भाषा का दर्जा मिलने के समय से अब तक भाषा इन्हीं दो मूल स्थितियों के बीच यात्रा करती रही है। पहली स्थिति में भाषा सृजन की भाषा है, दूसरी में 'सर्जनात्मक भाषा'। आगे विस्तार में जाने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि दोनों के बीच का यह सूक्ष्म अन्तर बाल की खाल निकालने वाले दृष्टि-कोण की पुष्टि न कर वस्तुत भाषा के संवेदनशील प्रयोगकर्ता के रूप में एक रचनाकार की समग्र मूल्य दृष्टि को ही ध्वनित करता है। अत सर्जनात्मक लेखन का भाषात्मक

कोई भी विवेचन भाषा चेतना की पृष्ठभूमि मे कार्यरत सौन्दर्यात्मक मूल्यो तथा उनके भी पीछे की सामाजिक-नैतिक पृष्ठभूमि को भी उचित परिप्रेक्ष्य मे देखने का एक प्रयत्न है। आज विभिन्न युगो के सर्जनात्मक सकल्पो एव आधार भूमियो की खोज 'जीवन-दर्शन' की खोज द्वारा नही पूरी जा सकती, न सिर्फ वह पूरी नही की जा सकती वरन् अकसर भ्रामक भी सिद्ध हो सकती है। क्योकि जीवन-दर्शन' जैसा शब्द रचनात्मक उपलब्धि की जिस सुचिन्तित प्रणालीबद्ध कोटि को अपने भीतर समाहित करके चलता है उसकी लीक या अनुसरण करने से सर्जनात्मक प्रक्रिया के उन छोटे-छोटे अनेक चक्रो को नजर-अन्दाज कर दिया जा सकता है जो सर्जनात्मकता के विकास चरणो के रूप मे अपनी अद्वितीयता एव विशिष्टता के कारण ही महत्वपूर्ण होते हैं। विभिन्न युगो के भावबोध की आन्तरिक सच्चाई और सजनात्मक चेतना के स्तर पर जो नया बिन्दु जुड़ा हो उसे पकडने मे जीवन दर्शन अपर्याप्त सिद्ध होता है। आज यदि इस बात का उत्तर देने की बाध्यता आन पड़े कि हम अपनी पूर्व पीढी से किस बिन्दु पर भिन्न है तो इसके लिए अन्य किसी स्थूल रास्ते पर न जाकर सर्जनात्मक लेखन की भाषा की सूक्ष्म तहो को ही उलटना-पलटना श्रेयस्कर होगा, जिसके भीतर कितनी ही अमूर्त रचना-शक्तियाँ समसामयिक जीवन बोध स प्रेरित किसी अग्रिम मूल्य-बोध की प्रतीति से टकरा-टकरा कर कोई निश्चित आकार लेने को आकुल हैं। दो पीढियो का यह अन्तर दिखाने के लिए यह आवश्यक नहीं समझा जाना चाहिए कि दो निश्चित परिपाटियो की तरफ ही इशारा किया जाय—नयी पीढी भिन्न जीवन-बोध के बावजूद अभी कोई भिन्न मूल्य बोध नही रच पायी है। भिन्न जीवन बोध की अनिवार्यता से क्रमश स्फुरित भिन्न मूल्योन्मेष की सत्ता यहाँ एकमात्र भाषा-पक्ष के अध्ययन से ही प्रमाणित की जा सकती है।

भाषा का रूप उसके 'आचरण' से निर्धारित होता है। यह आचरण भी बहुत कुछ उन ऐतिहासिक शक्तियो द्वारा परिचालित होता है। ये शक्तियाँ या तो सामाजिक-चेतनाके स्तर पर या व्यक्ति चेतना के स्तर पर क्रियाशील होती हैं। भाषा के परिप्रेक्ष्य मे ऐतिहासिक शक्तियो की सक्रियता के ये दो ध्रुव हैं। अकसर ये दो ध्रुव परस्पर मिल जाते हैं और भाषा का वह 'आचरण' जो अन्यतम ध्रुव-स्थितियो मे बिलकुल निश्चित'-सा रहता है, उनके मिल जाने से 'अव्यवस्था' अथवा अराजकता का परिचय देने लगता है। उदाहरण रूप मे कहा जा सकता है कि द्विवेदीयुगीन भाषा सामाजिक आचरण की भाषा थी और छायावाद युग की व्यक्तिवादी आचरण की। भाषा के आचरण की तीसरी स्थिति के लिए प्रयोग-वादकालीन भाषा का नाम आसानी से लिया जा सकता है। यहाँ 'भाषा के आचरण' को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वास्तव मे भाषा के 'आचरण' की परिकल्पना उस सम्बन्ध की ओर इगित करती है जो भाषा के प्रयोगकर्त्ता के रचनाकार-व्यक्तित्व तथा उसके परिवेश के बीच स्थित है। भाषा की इकाई के रूप मे शब्द म निहित अर्थ इस सम्बन्ध का ही प्रतिफलन है, या यो कह कि इस सम्बन्ध का बोध ही वह अर्थ है जिसका शब्द हमे ज्ञान कराता है। यह सम्बन्ध भाषा की धारक-शक्ति के रूप मे कितना महत्वपूर्ण तत्त्व है यह इस बात से ही प्रमाणित हो जाता है कि जब भी कभी, किसी बाह्य या आन्तरिक

कारण से वह सम्बन्ध बदला है शब्द का अर्थ ही बदल गया है। जिन भी परिस्थितियों मे रचनाकार और उसके परिवेश मे एक प्रकार का सम्बन्ध निश्चित हो गया है भाषा उसके अनुरूप ही आचरण करेगी। इस सदर्भ म यह सहज ही देखा जा सकता है कि भाषा के आचरण की अग्रिम परिकल्पना और तत्सम्बन्धी आवश्यक रचनात्मक सपृक्ति ही भाषा के एक निश्चित प्रकार के आचरण मे परिवर्तन ला सकती है। भाषा विज्ञान की शब्दावली मे सभवत इसे ही भाषा का विकास कहा गया है जिसका अर्थ यहाँ इतना ही समझ लिया जा सकता है कि भाषा एक प्रकार की सम्बन्ध-पूर्णता से दूसरी सम्बन्ध-पूर्णता की ओर बढती है। अवश्य ही यह पूर्णता (saturation) ऐतिहासिक शक्ति-चक्र की धीमी या तेज गति द्वारा अपनी आयु प्राप्त करती है। भाषा के सदभ म सकट तब उपस्थित होता है जब उस ऐतिहासिक-चक्र की गति का साथ देने मे वे सम्बन्ध पीछे रह जाते हैं। तब भाषा अभिव्यक्ति का जीवित उपादान न रह कर एक अलकृत मुद्रा का रूप अख्तियार कर लेती है।

द्विवेदी युग म इस सबध का नियमन बहुत मुखर रूप मे वे ऐतिहासिक शक्तियाँ कर रही थी, जिन्होने देश की राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत किया था और जो साहित्य के क्षेत्र मे एक 'सामाजिक अह' के रूप मे सामने आई। इस सामाजिक अह से प्रेरित उस युग के रचनाकार समाज को उसकी वस्तुवादी रेखाओ के बीच पहचानने की कोशिश कर रहे थे। उनमे ऐतिहासिक शक्तियो के अन्तर्मथन से उद्भूत उस नितान्त वैयक्तिकता का आग्रह नही था कि वे अपने परिवेश को (जो उस वक्त 'समाज' की परिकल्पना तक ही सीमित था) अन्तर्मुख आँखो से उसका कल्पनात्मक रूपान्तरण करके देखते। इसलिए उनकी खोज राष्ट्रीय चेतना की लहर स सयुक्त सामाजिक चेतना के ज्वार से उत्सर्जित वस्तुस्थितियो की सही पहचान करने और उन्हे सही शब्दो मे व्यक्त कर डालने तक ही रही। इस दृष्टि से पद्य और गद्य की भाषा मे कोई तात्त्विक भेद करना कठिन है, चाहे उस युग के निर्माता महावीर प्रसाद द्विवेदी को भले ही यह शिकायत रही हो कि 'हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य मे एक प्रकार की और पद्य मे दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है।' दोनो ही क्षेत्रो मे स्पष्ट रूप से शब्द पर ही बल दिया जाता था, चाहे वह मैथिलीशरण गुप्त की प्रवाहयुक्त सादी भाषा हो या अयोध्यासिंह उपाध्याय की सस्कृत-शब्द प्रधान क्लिष्ट भाषा। उस समय के कृतिकार का एकमात्र प्रयत्न (भाषा के सम्बन्ध मे प्रयोग) यह रहा है कि उसकी भाषा किस प्रकार अधिकाधिक दुरस्त, सटीक और उपयोगी हो जिसस वह सामाजिक परिस्थितियो का यथातथ्य चित्रण कर सके। द्विवेदी युग मे भाषा का एक प्रतिमान रूप स्थिर करन के पीछे यही व्यावहारिक चेष्टा काम करती दिखाई देती है। इस परिप्रेक्ष्य मे यहाँ भाषा की मूल सघटना का स्वरूप देखा जा सकता है। यहाँ भाषा रचनाकार और उसके परिवेश के सम्बन्ध की साक्षी मात्र है, एक ऐसा निष्क्रिय यन्त्र जो उतना ही काम करता है जितना उससे करवाया जाता है—बल्कि यहाँ तो इस बात की भी सजग चेष्टा है कि वह उतना ही काम करे जितना उससे करवाया जाय, न घट कर न बढ कर। रचनात्मक स्तर पर भाषा का यह रूप पराश्रित

रूप है—रचनाकार पर आश्रित, और उससे भी अधिक रचनाकार और उसके परिवेश में एक खास कोटि के सम्बन्ध पर आश्रित। अतः रचनाकार और भाषा का सम्बन्ध भी आश्रयदाता और आश्रित का सम्बन्ध है, दो स्वतन्त्र गतिशील (डाइनैमिक) इकाइयों का सम्बध नही।

भाषा का एक वर्णनात्मक ढाँचा होता है, कथ्य के आदि, मध्य, अन्त को सिलसिलेवार रखने का क्रम। गद्य में यह ढाँचा कमोबेश अनिवार्य सा होता है—उस बुनियादी ढाँचे का रहना गद्य के होने की ही शर्त है। कविता भाषा के इस वर्णनात्मक ढाँचे को स्वीकार नही करती। और इस सामान्य अर्थ मे द्विवेदी युग की काव्य-भाषा और गद्य-भाषा जरूर अलग-अलग हस्तियाँ हैं। पर इसके अलावा भी भाषा का एक वर्णनात्मक रूप-गठन होता है जिसमे शब्द अर्थों को, और अपने अपेक्षाकृत अधिक सवेदनशील प्रयोगो मे (जो कि आगे चल कर सभव हो सका) अर्थ-अनुगूंजो की लडी लिए हुए आते हैं, इस शब्द-लडी का अर्थ अपने आप मे पूर्ण होता है, वे अपनी जगह पर पूरा अर्थ देते हुए 'स्थिर' होते हैं, उनके क्रम मे अदला-बदली तो की जा सकती है—और इस तरह अर्थ-वैभव का विस्तार किया जा सकता है—पर उनकी क्रमता के बीच कोई ऐसा अन्तराल, ऐसा निर्वात नही पैदा किया जा सकता जिसमे सर्वथा नया अर्थ अन्वेषित कर सकने की गुआइश हो। उन्हे अधिक से अधिक लोचदार बनाया जा सकता है, जिससे भावानुभूतियों के तापमान के अनुसार वे कभी परुष, कभी कोमल, कभी सूक्ष्म, कभी ठोस रूप ग्रहण कर सकें। पर जिसे मैं 'सर्जनात्मक भाषा' कहता हूँ, वह भाषा में रचनाकार की अनुभूतियों के दीपक से दीपक जलाने की क्रिया से नही पैदा होती, चाहे रचनाकार की वे भावानुभूतियाँ कितने ही वेग और तीव्रता से भाषा की सीमा से टकराएँ। 'सर्जनात्मक भाषा' भाषा-प्रयोग की एक ऐसी शर्त है जिसमे रचनाकार भाषा की इकाई के रूप मे शब्द के अस्तित्व के प्रति अत्यधिक सचेत होता है—उसका सचेत होना इस बात की गवाही मात्र है कि वह भाषा के अब तक के प्रयोगो की सीमाओ से परिचित है और यही नहीं वरन् उन सीमाओ को सवेदना के स्तर पर झेल भी चुका है। इसे चाहें तो भाषा की अस्तित्ववादी परिकल्पना कहा जा सकता है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि रचनाकार अपने कृतिकार-व्यक्तित्व के प्रति भी अत्यधिक सचेत हो। ऐसी स्थिति मे रचनाकार भाषा के साथ अपने सम्बन्ध म उससे अपनी भावानुभूतियो को मात्र अभिव्यक्त करने की सहूलियत नही चाहेगा, वरन् वह भाषा को अनुभूति का एक निर्वैयक्तिक आयाम मान कर उसके द्वारा नये अर्थ की ओर एक सम्मिलित यात्रा करेगा। इस प्रकार के भाषा-प्रयोग म शब्द कृतिकार के मोहताज न होकर एक ऐसे सवेदनशील जीवित-खड होंगे जिनके प्रति तनिक भी लापरवाही रचना के उन सौन्दर्यात्मक मूल्यो के उन्मेष को ही ध्वस्त कर सकती है जिसे रचनाकार अपनी कृति के माध्यम से साक्षात्कृत करना चाहता है। सर्जनात्मक भाषा रचनाकार की अपने परिवेश की पहचान को कोई निश्चित आकार, सज्ञा या रूप देकर नही व्यक्त करती, वरन् वह वस्तुओ को उनके मूल आकारा सज्ञाओ, रूपा के साथ इस तरह से प्रतिनिधित्व देती है कि उनका जुटा हुआ समवाय

किसी तीसरी अर्थ सत्ता के अस्तित्व को प्रपित करता है। यह अर्थ का तीसरा आयाम अर्थ के उन दो आयामों से भिन्न होता है जिसके अन्तर्गत एक में अर्थ महज समझा जाता है और दूसरे में महज महसूस किया जाता है। वह उस प्रतिक्रिया (आचरण) पर निर्भर करता है जो वस्तु—और उसे सामने लाने वाले शब्द रूप—तथा वस्तु के बीच घटित होता है। इस प्रतिक्रिया के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि दो वस्तुएँ—दो शब्द रूप—एक साथ जुटा दिए जायें, वरन उनको एक साथ जुटाने में एक विशेष संगति एक विशेष क्रम या तरतीब का होना भी अपेक्षित है। रचनाकार की क्षमता इस बात में है कि वह उन वस्तुओं को एक साथ विभिन्न तौर तरीकों में इस तरह रखे कि वे परस्पर तभी प्रतिक्रिया करें जब कोई तीसरी अर्थ सत्ता मौजूद हो।

यदि रचनाकार के भीतर ही सब कुछ घटित होता है और बाहर का लोक रचना-क्षण के पहले तक रचनाकार से असम्पृक्त एक मृदुल कच्चा माल भर ही है तो वह गति नहीं होगी जो दो स्वतन्त्र वस्तु सत्ताओं के होने की सूचक है। यह गति काल का ही एक उद्भावन है यद्यपि सर्वत्र उस पर आधारित नहीं है। यह काल (युगबोध) वह तीसरी सत्ता है जिसकी पृष्ठभूमि में जब दो वस्तुएँ विरुद्ध दिशाओं में चलती हुई दिखाई देती है तब गति (आधुनिकता) का बोध होता है। अभी तक प्रायः यह होता रहा है कि रचना क्षण के पहले तक या तो एक वस्तु चलती दिखाई देती थी (द्विवेदी युग सामाजिक अहं) और दूसरी स्थिर भावोद्दीपन की प्रतीक्षा में (रचना का विषय बन कर) पड़ी रहती थी या दूसरी वस्तु चलती दिखाई देती थी (छायावाद अन्तर्मुख अहं—व्यक्तिमन में पड़ती हुई बाहर की छाया) और पहली उससे परे असम्पृक्त रहती थी। इन दोनों ही स्थितियों में रचनाकार एकमर्चीय पात्र के समान अपनी भावानुभूतियों के लिए जिस भाषा को चुनता है—इन स्थितियों में जो भाषा निर्मित होती है—वह चाहे वस्तुवादी हो (द्विवेदी युगीन) या भाववादी (छायावाद युगीन) उसमें तनाव नहीं होता जिसका कि होना इस बात का अत्यंत प्रभावशाली संकेत होता है कि रचना का आशय खिंचे हुए बाण की तरह किसी तीसरी अर्थ संभावना की दिशा में छूटने छूटने को है।

भाषा को इस हद तक स्वशक्ति चालित एवं निर्वैयक्तिक बना देना कि वह रचनाकार को दाय के रूप में मिले परिचित अर्थ रूपों के द्वारा ही वस्तु सत्य का नया कोण उद्घाटित कर दे वस्तुतः रचनाकार की रचना तन्त्र के क्षेत्र में अपनी तैयारी ही है। यह तैयारी होने से रचनाकार कम से कम अपने भाषा प्रयोग द्वारा अपनी अनुभूतियों की सौन्दर्यात्मक अनुकृति को ही सर्जन मानने की भूल नहीं करेगा। परन्तु इस तैयारी में सबसे बड़ी बाधा हमारी साहित्यिक परम्पराएँ रही हैं जिन्होंने हिन्दी के रचना मानस को बहुत समय तक न सिर्फ अनुप्राणित किया वरन उसे एक विशेष तापमान पर निर्भर भी रखा। बाधा इस रूप में कि रचनाकार का इन साहित्यिक परम्पराओं के अतिरिक्त किसी इतर ज्ञान बाधात्मक परम्परा से इस हद तक लगाव नहीं हो सका कि वह रचना चिन्तन के स्तर पर—और यह केवल स्वचेतनता की स्थिति में ही सम्भव है—कोई बड़ा जोखिम मोल ले। ये साहित्यिक परम्पराएं भावबोध के गहन स्तर पर हिन्दुस्तान के समग्र

सांस्कृतिक उत्तराधिकार से जुड़ी हुई हैं। इसीलिए सम्भवतः उनकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि उनसे पूरी तरह आज भी मुक्त नहीं हुआ जा सका है। हमारी सांस्कृतिक चिन्ता-धारा के प्रतिफलन के रूप में ये साहित्यिक परम्पराएँ मूलतः अद्वन्द्वमूलक रही हैं। पश्चिम की द्वन्द्वमूलक ज्ञान-बोधात्मक परम्पराओं ने जब भी इस देश की रचनात्मक प्रतिभा का सस्पर्श किया—और परिणामस्वरूप जब-जब उसको अपनी धुरी खिसकती-सी लगी—, उसमें एक प्रकार के भाव तारल्य ने ही जन्म लिया। इस भाव तारल्य ने कभी-कभी पश्चिम-प्रेरित उन द्वन्द्वमूलक परम्पराओं को ऐंद्रजालिक रहस्य से आवृत देखा, तो कभी उन्हें अराष्ट्रीय मान कर उनके प्रभावों का अतीतोन्मुख समाहार ढूँढ लिया। भाव तारल्य के इसी धरातल से उनके प्रभावों का अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक समाहार राष्ट्रीय जीवन में 'आध्यात्मिकता' के रूप में किया गया तो सर्जनात्मक लेखन में—काव्य में 'बिम्ब' और कथा में 'वातावरण' के रूप में। इस समाहार का प्राचीन रूप साहित्य बोध के लिए 'रस' तत्त्व की अनिवार्यता में व्यक्त हुआ था जिसमें आस्था रखने वाले सम्प्रदाय साहित्य-जगत् में आज भी दुर्लभ नहीं हैं।

यहाँ इतना संकेत कर देना समीचीन होगा कि अद्वन्द्वमूलक सांस्कृतिक चेतना से निःसृत उन साहित्यिक परम्पराओं ने भाषा के 'वर्णनात्मक' प्रयोग को ही पुष्ट किया है। क्योंकि अद्वन्द्व की स्थिति में कृतिकार के मानस में वह विशिष्ट 'तनाव' नहीं होता जो पहले तो दो स्वतन्त्र वस्तु सत्ताओं को स्वीकार करे, फिर उन्हें अपने रचना-व्यक्तित्व के धरातल पर आमने-सामने ऐसे प्रतिष्ठित करे कि वे 'मौका' पाते ही रचना-प्रेषण के क्षण में एकाकार हो जाय और एक नये अर्थ की सृष्टि कर दें (अभिव्यक्ति नहीं)। और सम्भवतः इसीलिए अद्वन्द्व की स्थिति में भाषा की मूल संघटना में कोई मौलिक परिवर्तन कर सकने की सम्भावना नहीं होती। इसके विपरीत द्वन्द्व की स्थिति में तनाव होता है और तनाव में वस्तु-रूपों के पूर्वपरिचित सम्बन्ध बिखर जाते हैं। यह बिखराव शायद उन परिचित वस्तु रूपों में एक नया सर्जनात्मक अर्थ सम्बन्ध-क्रम स्थापित करने के लिए आवश्यक है, क्योंकि अन्ततः इससे भाषा पर नयी सान चढ़ती है। वर्तमान युग-परिवेश में उस द्वन्द्व-धर्मी रचना-प्रवृत्तियों से अप्रभावित न रहते हुए भी अब तक की साहित्यिक परम्परा में दीक्षित और भावबोध के स्तर पर सम्पृक्त रचनाकार उस बिखराव को प्रायः साहित्यिक अवमूल्यन की दृष्टि से ही देखता आया है, और परिणामस्वरूप अवचेतन के स्तर पर उससे बचाव की राह ही खोजता रहा है।

यह द्रष्टव्य है कि उन साहित्यिक परम्पराओं में दीक्षित होने के कारण ही हिन्दी की साहित्यचेतना के विभिन्न कालों में जब भी कोई नई लहर आई—चाहे वह द्विवेदी-युगीन राष्ट्रीय चेतना की लहर हो, छायावादकालीन रोमैण्टिक चेतना की लहर या प्रयोगवाद काल में पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की लहर—रचनाकारों ने उन परम्पराओं से अपने को नये सिर से नये-नये रूपों में सम्पृक्त करने की ही चेष्टा की। यह एक तरह से युगीन परिस्थितियों में परम्परा का मूल्यांकन भी था। परम्परा के प्रति जब विद्रोह भी व्यक्त हुआ तब भी उसके अस्तित्व का—और उस अस्तित्व के पीछे उसकी अक्षुण्ण स-

वती शक्ति को—अस्वीकार नहीं किया गया। अज्ञेय का आलोचकों ने एक समय सबसे अधिक मुखर रूप में परम्परा-द्रोही घोषित किया था, पर उनका परम्परा द्रोह भी महज इतना ही था कि वे परम्परा को बोझ स्वरूप 'गठरी' मानने से इकार करते थे। (और अपने को स्पष्ट रूप से 'अपरम्परावादी' बताने वाले कुछ लेखकों का न सिर्फ रचना बोध वरन् भाषा प्रयोग भी उन साहित्यिक परम्पराओं से मुक्त नहीं है।)

इलियट की इस उक्ति के परिप्रेक्ष्य में कि परम्परा की जीवंत उपलब्धियों का सर्जनात्मक उपयोग कर सकने के लिए वैयक्तिकता का सजग बोध एक आवश्यक शर्त है, देखें तो उन युग संचित सांस्कृतिक-साहित्यिक परम्पराओं का द्विवेदी युग में रचनात्मक उपयोग—विशेषकर भाषा प्रयोग के क्षेत्र में—बहुत आरंभिक स्तर पर था। उस युग के रचनाकारों ने परम्परित साहित्यिक उपकरणों को ज्यों का त्यों ले लिया पर उनका उपयोग सीमित अर्थों में ही किया। छायावादियों ने न सिर्फ भाषा में परम्परा से गृहीत छंद अलंकार आदि के उपकरणों में अपनी कल्पनाशीलता से नया निखार पैदा किया, वरन् अपने पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक विपुलता से संस्कृत की रस सिद्ध परम्परा से सीधा सम्पर्क जोड़ते हुए वर्ण शिल्प, लय, चित्र बिम्ब आदि सूक्ष्मतर उपजीव्यों का भी संधान किया। द्विवेदी युग की सारभूत उपलब्धि यह थी कि उसने भाषा को, जबकि वह निर्माणावस्था में ही थी, एक ठोस वस्तुवादी धरातल प्रदान किया। छायावाद ने उस धरातल से खड़े होकर भावात्मक उड़ानें लीं और अपनी रचनात्मक शक्ति को केन्द्र मान कर भाषा के रूप गठन में मानसिक दिवास्वप्नमयता का तत्त्व भरा। छायावादी काव्य मुख्यतः बौद्धिक संवेग का काव्य था, इसलिए अपने भाषा प्रयोग में वह रचनात्मक अनुभूतियों का सूक्ष्म छायाभास और भाव कल्पना का चित्रात्मक विस्तार तो ला सका, पर अपने यथार्थ परिवेश से क्रियात्मक सम्पृक्ति न होने के कारण उसमें अनुभूति की आयामयुक्त गहराई नहीं आ पाई। कुछ अजब नहीं कि छायावादी काव्यभाषा क्रियापदों से शून्य अलग अलग चित्र-खंडों के समान मनोरम होते हुए भी किसी सक्रिय बोध से जुड़ी नहीं लगती। निराला व्यक्तित्व का पौरुष और काव्य-शिल्प का स्फूर्त ओज लिए हुए जरूर आते हैं और अन्य छायावादियों के मुकाबले शुद्ध संवेगों के कवि के निकट भी पहुँचते हैं—और वस्तुतः इस शुद्ध संवेग के कारण ही जहाँ वे छायावाद के भाषा संवेदनों को (अपनी गीति प्रधान कविताओं में) वहन करते हुए भी उसके सबसे स्फोटक बिन्दु पर हैं, वहीं दूसरी ओर वे 'नये पत्ते' में प्रयोगवाद की भाषा संवेदना का भी स्पर्श कर सके—पर अपने प्रतिनिधि काव्य-रूप में वे भी सांस्कृतिक साहित्यिक राग संदर्भों का वैभवशाली ठाठ ही खड़ा करते हैं। इसलिए उनकी काव्य भाषा अपेक्षाकृत अधिक घनीभूत, क्रिस्टल और संश्लिष्ट होते हुए भी संघटनात्मक दृष्टि से अन्य छायावादियों से भिन्न नहीं है। छायावाद के विशिष्ट भावबोध में चूंकि प्रत्येक अनुभव रचना-स्तर पर अतिक्रमित हो जाता था, इसलिए उसकी भाषा मानव अनुभूतियों की वास्तविकता को व्यक्त करने के बजाय उसका 'भ्रम' रचती सी लगती है। भ्रम रचने की इस प्रवृत्ति को उस मानसिक दिवास्वप्नमयता के भी परिपार्श्व में देखा

जा सकता है, जिसमें भाषा ठोस मानव-सम्बन्धों को उनकी समसामयिकता में उद्घाटित कर सकने का संदर्भ नहीं रचती, बल्कि मानव-सम्बन्धों पर अनुचिन्तनात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करती है। इसलिए छायावाद की भाषा ने प्रकृति चित्रों की यथार्थता के अतिरिक्त मानव-सम्बन्धों की यथार्थता को रच सकने की संभावना नहीं दी। इसके साथ ही यदि छायावादी भाषा के उन प्रवृत्तिमूलक तत्वों को, जो परवर्ती कालों की भाषा-संवेदना में संक्रमित हुए, भावबोध के प्रमुख कवियों के साथ प्रतिरूपित करके देखा जाय तो लगेगा कि प्रसाद की भाषा से दिवास्वप्नमयता, पंत की भाषा से चित्रात्मकता, महादेवी की भाषा से लयधर्मिता और निराला की भाषा से संश्लिष्ट उदात्तता के तत्त्व परवर्ती युगों को प्राप्त हुए। इन तत्त्वों के साथ प्रवृत्ति-रूप में छायावादी भाषा ने भविष्य की भाषा-रचना के बुनियादी पैटर्न पर काफी दूर तक अपनी छाप अंकित कर दी। यह छाप अवश्य ही भिन्न भावबोध-जनित और-और छापों के साथ मिल कर कालान्तर में इतने जटिल एवं संश्लिष्ट रूपों में प्रकट हुई कि सहसा उसकी मूल रेखाएँ ढूँढ पाने का प्रयत्न आज दुस्साहसिक ही माना जायगा।

अगला साहित्यिक अभियान मनुष्य और वस्तुजगत् के परस्पर सम्बन्धों की भाषा की खोज के रूप में सामने आया। यह प्रवृत्ति उत्तर छायावाद काल में ही शुरू हो गयी थी, इसीलिए बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि की भाषा में छायावादी भावबोध का खासा अंश होते हुए भी यथार्थ मानव अनुभूतियों और उसके रचना शिल्प के बीच उतना बड़ा अंतराल नहीं है जितना छायावाद में मिलता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि उत्तर छायावाद छायावाद और प्रयोगवाद के बीच का वह सेतु है जिसके माध्यम से छायावादी काव्य भाषा के विशिष्ट तत्त्व छनकर परवर्ती साहित्य चेतना में संक्रमित हुए तो अत्युक्ति न होगी। इसका एक सबल उदाहरण अज्ञेय की आरंभिक रचनाएँ हैं। और यदि प्रयोगवाद तथा आरम्भिक नयी कविता की भाषा में छायावाद से सीधा सम्बन्ध दिखाना हो तो शमशेर का नाम लिया जा सकता है। शमशेर में निराला की संश्लिष्ट क्रिस्टल भाषा का रचना संवेग, महादेवी की कोमल लयधर्मिता और पंत का चित्र-शिल्प एक साथ मिलता है। छायावादी भाषा-संवेदना-तत्त्वों का यह संक्रमण एक अन्य स्थिति ने और भी अनिवार्य बना दिया।

साहित्य-सचेतना की अब तक की अद्वंद्वात्मक पृष्ठभूमि में प्रगतिवाद पहली बार द्वन्द्वात्मक प्रेरणाएँ लेकर आया। यों तो इस द्वन्द्ववाद की झलक उत्तरछायावादियों में—विशेषकर बच्चन में—ही दिखायी पड़ने लगी थी, पर वह ज्यादातर वैयक्तिक वर्जनाओं तक ही मुखर हो पायी थी। प्रगतिवाद ने उस द्वन्द्वात्मकता को विचार-प्रत्यय के स्तर पर ग्रहण किया। देखा जाय तो इसकी आवश्यक पृष्ठभूमि द्विवेदीयुग की वस्तुवादी चेतना द्वारा ही निर्मित हो चुकी थी। प्रगतिवाद ने द्विवेदीकाल के उस व्यावहारिक वस्तुवाद से संकेत लेकर अपना अभियान शुरू किया। पर जिस उग्रता के साथ उसने द्वन्द्वात्मक वस्तु-चेतना को अपने परिवेश पर आरोपित करना चाहा उसमें वस्तुस्थितियों की ठोस जानकारी के अभाव और अब तक की सांस्कृतिक-साहित्यिक परम्परा के मूल-

स्पष्ट है। युग संवेदना का नियमन करने वाली कोई वस्तुपरक कसौटी न होने से भाषा की सस्कारहीनता उस युग के 'मिजाज' के अनुरूप तत्कालीन विसगति-बोध को व्यक्त करने के लिए एक सजीव आईना साबित हुई। इस विसगति-बोध का सबसे खरा रूप तारसप्तक के कवियो मे से केवल प्रभाकर माचवे की कविताओ म मिलता है। रामविलास शर्मा की भाषा सवेदना उस विसगति-बोध के केवल बाहरी रूपो का स्पर्श करके ही रह जाती है। मुक्तिबोध की भाषा उत्ताल तरगो पर हिचकोले खाते हुए एक विशाल जहाज का परिचय देती है और जो स्नायुविक ऊर्जा उस जहाज को चला रही होती है उससे इस बात का निरन्तर खतरा लगा रहता है किसी भी वक्त वह उस जहाज को किसी भयानक चट्टान से ले जाकर भिडा देगी। मुक्तिबोध की शक्ति इस बात मे है कि वे भाषा की उठान और गिरान के अन्तिम बिन्दु तक उसका अपनी अटूट सवेदना से साथ देते है। पर उनकी यह साहसिक यात्रा उनके सैद्धान्तिक आग्रहो के बावजूद मूलत अन्त प्रदेश की ही यात्रा है। अत बाह्य जगत् के समस्त कार्य-व्यापारो को उनकी भाषा एक ऐसे विशद बिम्बलोक म परिवर्तित कर देती है जिसकी प्रत्येक वस्तु रचनाकार की मानसिक ऊर्जा मे खिची 'गति' का चित्रलिखित रूप प्रस्तुत करती है। इस स्तर पर मुक्तिबोध की भाषा छायावादी-भाषा-सवेदना की दिवास्वप्नमयता का आभास देने लगती है। अन्तर केवल यह है कि छायावादी लेखक प्रकृति के बाह्याभ्यतरिक रूपो म स्वप्न की उडान भरा करते थे और मुक्तिबोध अवचेतन के उन रहस्यमडित अधगहरो के भीतर, जहाँ एक वैभवशाली मानव-सस्कृति के विद्रूपमय ऐतिहासिक खण्डहर पडे हुए हैं। भाषा को स्मृति के रचनात्मक सन्दर्भो मे अनुरजित करने की जो प्रक्रिया छायावाद काल मे आरम्भ हुई, जिसम उत्तर छायावाद ने अवसाद का तत्व जोडा और प्रयोगवाद काल म मानव के तीव्रतर आत्मसघर्ष स उपजी विपर्ययग्रस्त करुणा म जिसम गहराई उत्पन्न हुई, उसका शृखलाबद्ध रूप मुक्तिबोध म मिलता है। ये स्मृतियाँ विस्फोटक-द्रव्यो स भरपूर हैं और उन्हे वहन करने वाली भाषा भी एक प्रकार के 'तनाव' से युक्त आचरण करती है, पर यह विस्फोटकता तथा 'तनाव' दोनो ही रचनाकार के व्यक्तित्व से आक्रान्त हैं। उस युग म शायद यह रचनाकार की नियति थी कि जो युग-सवेदना के प्रति जितना ही अधिक सम्पृक्त होता था वह उतना ही अधिक अपने मनोमय लोक—अपने 'वैयक्तिक अह'—की ओर आकर्षित होता था। सवेदना के स्तर पर इस युग-स्थिति के सधि बिन्दु पर भावानुभूतियो को रूपान्तरित करने के दो औजार रचनाकार के पास सहज ही सुलभ थे—प्रतीक और बिम्ब। मुक्तिबोध बिम्बात्मक प्रतीको के कवि हैं, जबकि अज्ञेय प्रतीकात्मक बिम्बो के।

युगीन सामाजिक शक्तियो और वैयक्तिकता के आग्रहो के उस सधिबिन्दु पर खडे होकर भी अज्ञेय की भाषा मे स्मृति-सदर्भो का वैसा अतिरेक नही मिलता जैसा मुक्तिबोध और प्रभाकर माचवे मे, हालाँकि उनकी मानवीय-सस्कृति एव इतिहास से रागात्मक सम्पृक्ति (महज जानकारी नही) कम गहरी नही है। मुक्तिबोध अपने 'वैयक्तिक अह' को लेकर बाह्य-जगत मे कूद पडते हैं और उस जगत् को ही एक अद्भुत

बिम्बलोक में रूपान्तरित कर देते हैं। इसके विपरीत अज्ञेय पहले अपने अनुभूति तन्त्र से उस बाह्य जगत् को अपने मनोमय लोक में अवतरित करते हैं, फिर अपनी चयनधर्मी कलादृष्टि से उसमें एक ऐसे वस्तु-रूप का अन्वेषण करते हैं जो विशिष्ट सन्दर्भ-जनित अनुभूतियों की तात्कालिकता और तीव्र रागबोध को वहन करते हुए भी व्यापक भावबोध के प्रतीक स्तर पर अतिक्रमित हो जाता है। इसीलिए अज्ञेय का भाषा-प्रयोग उनके भावलोक की अन्तरंग हलचल—रचनाप्रक्रिया की अकुलाहट—का पता नहीं चलने देता, एक मर्यादित एवं सश्लिष्ट अनुभव-बन्ध का परिचय अवश्य देता है। भाषा-प्रयोग का यह मर्यादित आचरण एवं तटस्थता सम्भवतः उस समय की क्षुब्ध साहित्य सचेतना की माँग थी, इसीलिए अगली साहित्य-पीढ़ी—विशेषकर काव्य पीढ़ी—के 'मिजाज' के लिए अज्ञेय की भाषा आदर्श (अनुकरणीय नहीं) सिद्ध हुई। साहित्यिक चेतना में रोमैंटिक तथा यथार्थवादी तत्त्वों के समान दबाव के कारण तत्कालीन भाषा प्रयोग में एक 'ढुलमुलपन' था, पर अज्ञेय की भाषा में वे दोनों तत्त्व परस्पर इतने दूर तक तह-दर-तह अन्तर्मुक्त हो गये कि भाषा सवेदना के स्तर पर ही यथार्थ और रोमैंटिसिज्म की अलग-अलग पहचान धूमिल पड़ गयी। इससे परवर्ती लेखन में भाषा के प्रति जो दृष्टिकोण धीरे-धीरे विकसित हुआ उसमें यथार्थ-सवेदना के बदलाव के साथ-साथ भाषा के सर्जनात्मक सघटन में भी अपेक्षित बदलाव ला सकने की सभावना न्यूनतम हो गयी। यथार्थ और रोमैंटिसिज्म का 'समझौता' प्रगतिवाद काल में भी हुआ था, पर जीवनानुभूतियों की वास्तविकता द्वारा समर्थित न होने के कारण उसका खोखलापन शीघ्र ही प्रकट हो गया। परन्तु प्रयोगवाद और उसके बाद की साहित्य-पीढ़ी युग की वास्तविकताओं के प्रति अनुभूति के गहन स्तर पर सम्पृक्त थी, इसलिए इस समन्वय से भावबोध के स्तर पर क्रमिक सम्पन्नता का अनुभव करते हुए भी रचनाकार उसके भावात्मक खतरे की ओर से आगाह नहीं था। अतः यथार्थ और रोमैंटिसिज्म की स्पष्ट विभेदक चेतना के अभाव का दुष्परिणाम भाषा को इस रूप में उठाना पड़ा कि बदली हुई परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भिन्न सवेदनीयता और सौन्दर्यात्मक प्रक्रियाओं को इतनी सहजता से 'नया' स्वीकार कर लिया गया कि उस 'नयेपन' के सन्दर्भ में भाषा का नयापन (जो एकमात्र उसकी मूल सघटना में किसी मौलिक परिवर्तन द्वारा ही सम्भव हो सकता था) एक अतर्क्य और बेमानी-सी वस्तु बन गयी। नयी कविता के आरम्भिक वर्षों में और समसामयिक कथा लेखन में यह स्थिति आज भी मिलती है। इस विरोधाभासमय रचना-स्थिति में, जबकि भाषा मूलतः प्रयोगवादी जीवन बोध के स्तर पर केवल 'यथास्थिति' का ही निर्देश करती है, जहाँ एक ओर भाषा को जन-जीवन के शब्दों, मुहावरों, सवाद-शैली की नाटकीय भगिमाओं तथा शब्द के बजाय अर्थ की लयों तक ले जाने की चेष्टा हुई, वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक रागबोध की व्यक्तित निष्ठा ('बाण भट्ट की आत्मकथा'), पौराणिक प्रतीकों ('अधा युग'), लोकधर्मी गीति-छवियों एवं रचना-प्रवृत्तियों (केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर, ठाकुर प्रसाद सिंह) तथा आँचलिक अनुभव-परम्पराओं के प्राकृत चित्रों ('मैला आँचल') से भी उसे रंजित करने के प्रयत्न किये गये। कह सकते हैं कि भाषा

इससे समृद्ध हुई, उसमे भावनाओ की सूक्ष्मतर भंगिमाओ तथा आरोह-अवरोहो को व्यक्त करने की क्षमता पैदा हुई। पर देखें तो अब तक के चले आते भाषा-प्रयोग की इस क्षितिज धारा मे अनुभव की नयी नयी जमीन तट कर गहराई तो अवश्य आई, पर वही कालान्तर मे रोमैंटिसिज्म के मोह से मुक्त समसामयिक युगबोध की प्रखर यथार्थ-चेतना की आंच मे गुजर कर एक 'दमदत' मे परिणत हो गयी।

यथार्थ और रोमैंटिसिज्म का समन्वय कला के स्तर पर वस्तुत एक उदात्त *मानवतावादी दृष्टिकोण मे ही फलीभूत हो सकता था। औद्योगिकता के प्रसार तथा महा-*नगरीय मूल्य विपर्यय के दुर्निवार चक्र मे पड कर यथार्थ और रोमैंटिसिज्म का वह नाजुक सन्तुलन पूरी तरह बिखर गया। सन् पचास के बाद जिस साहित्य-पीढ़ी ने केन्द्र स्थान ग्रहण किया उसकी चेतना म एक ओर तो उस बिखराव का मलबा था और दूसरी ओर औद्योगिक एव प्राविधिक तन्त्र-मूल्यो के बढते प्रभाव से विस्थापित मानव व्यक्तित्व का तीव्र बोध, जिसके फलस्वरूप न सिर्फ उसके रचना-व्यक्तित्व मे अन्तर्ध्वनित होने वाला 'सगीत' महानगरो के 'शोर' में डूब गया, वरन् छन्द, लय, पौराणिक प्रतीक आदि जिन साहित्यिक उपकरणों म पहले कभी उसने परम्परा से अपने को जोडने की चेष्टा की थी, उनका काम भी महज आधुनिक मनुष्य के विद्रूप भाव एव विस्थापित भाव-चेतना की क्रूर करुणा को उभारना रह गया। मदन वात्स्यायन और लक्ष्मीकान्त वर्मा के भाषा-प्रयोग इस स्थिति को स्पष्टता से सामने रखते है। यह विस्थापित भाव-चेतना कुँवर नारायण जैसे बौद्धिक रागबोध के कवियों में रचना-प्रक्रिया की विभक्त सवेदनीयता मे परिलक्षित होती है, जिसमे विचार और अनुभूति की टकराहट मे भाषा एव दर्प भाव का आभास देने लगती है। केन्द्रच्युत भाषा-सवेदना के इस दौर में विदेशी भाषाओ, विशेष कर अग्रेजी के शब्द (और वाक्य-विन्यास तक) धडल्ले से लिए गये और इसे भाषा की सवेदन क्षम विस्तृत होने का प्रमाण माना गया। अन्य-अन्य कलाओ और विज्ञान के अर्थ-सकेत ले लेकर भाषा को 'समृद्ध' करने का अभियान भी चला। भाषागत इस सारी अव्यवस्था के भीतर भाषा-सवेदना का एक नया आधार, एक नया समवाय तलाश कर पाने की चेष्टा अवश्य दिखाई देती है परन्तु जिन स्तरो से ये सारी प्रवृत्तियाँ *परिचालित हो रही हैं उनमे सही दिशा-क्रम का अभाव दिखाई देता है।* यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि पश्चिम की द्वन्द्वमूलक ज्ञान-शोधात्मक परम्पराओ के प्रति आज के रचनाकार की प्रतिक्रिया पूर्ववर्ती रचनाकार की तरह ऊपरी अथवा अपरिपक्व आकर्षण या विकर्षण की नहीं रह गयी है, वरन् वर्तमान युग परिस्थितियो से 'खूराक' पाने वाले इस द्वन्द्ववाद से उसकी आन्तरिक सम्पृक्ति है। इसीलिए भाषागत अराजकता के पीछे सच्ची छटपटाहट है। पर रचना-सवेदना के स्तर पर अनुभूत होने वाला वह द्वन्द्ववाद किसी सक्रिय भावबोध मे परिणत होने के बजाय एक प्रभाव मे बदला जा रहा है (काव्य मे बिम्ब के प्रयोग की व्यापक प्रवृत्ति और गद्य की विधाओ मे रूद-फार्म विरोधी तरल रचना-रूपो [संस्मरण डायरी, यात्रा, और कभी सब कुछ का मिला जुला रूप, जैसे 'हरी घाटी' म मिलता है] की ओर रुझान का यही कारण है)।

इसीलिए आज क अधिकाश रचनाकारो की भाषा 'वातावरण' के अति सवेदनशील ग्राफ पर ठहरी हुई है। मुझे यह आधुनिक युग-चेतना की सबसे अधिक विडम्बनामय स्थिति लगती है जिसमे आज का रचनाकार भाषा की सीमा के प्रति जितना ही सचेत है, अनजाने मे वह उसके परम्परित सघटना-रूप को उतना ही नये-नये रूप-रगो मे आगे बढ़ाता जा रहा है। यह सही है कि भाषा अपने विकास-क्रम के वर्तमान पूर्णता बिन्दु पर रचनाकार के हाथ का खिलौना नही रह गयी है जैसा कि पहले थी, न ही वह रचनाकार के व्यक्तित्व से अब उस हद तक आक्रान्त ही है। वह मूर्त अर्थ से अमूर्त अर्थ और शब्द से शब्दहीनता के स्तर तक बढी है। पर उस अमूर्त शब्द-आयाम—उस शब्दहीनता—के प्रति तीव्र रूप से सवेदित होते हुए भी, अपवाद स्वरूप कुछ लोगो को छोड दिया जाय तो, अधिकाश रचनाकार नये अर्थ-सम्प्रेषण के लिए आवश्यक अपने बोधयन्त्र की वह निर्वैयक्तिकता नही प्राप्त कर पाये हैं जो शब्दहीनता की स्थिति को एक शक्तिशाली सभावना से भर दे। उस शब्दहीनता मे व हद से हद वर्तमान यथार्थ-अनुभूतियो की बेचैन स्मृतियाँ तथा उनकी दूरगामी अनुगूँजें ही भर सके हैं, जो स्मृति याद करने से बार-बार छूट जाती हैं इसलिए अर्थबोध के एक नये स्तर की ओर सकेत करती हैं। निर्मल वर्मा की कहानियाँ भाषा के इस सीमित सभावना-स्तर का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

भाषा के सन्दर्भ मे 'शब्दहीनता'—शब्दो के प्रचलित अर्थ-क्रम की व्यर्थता—का अहसास जिन रचनाकारो मे केवल भावनात्मक अनुद्वेग ही नही जगाता उनके लिए शब्दहीनता की स्थिति स्वचेतनता के सन्दर्भ मे ही कुछ मूल्य रखती है, अत इस आधार पर उनकी पहली कोशिश अपने बोधयत्र को उन साहित्यिक परम्पराओ से मुक्त करने की होती है जो अब तक के भाषा-प्रयोग के रवैये को परिपुष्ट करती आई है और परिणामस्वरूप शब्दहीनता की स्थिति की खुद जिम्मेदार रही है। इस कोशिश मे ही वास्तव मे पश्चिमी ज्ञान-बोधात्मक परम्पराओ का एकमात्र विवेकपूर्ण उपयोग हो सकता है। वैसा करना एक तरह से पश्चिम मे अपनाय गये विज्ञान और प्रजातन्त्र की विचार-दृष्टियो की यार्थ रूप मे परिणति होगी जिन्हे अभी तक हम सिद्धान्तवत् ही ग्रहण करते रहे है। पूर्व-परम्पराओ मे अब तक के हमारे मोह-सम्बन्ध मे मुक्ति और बोध-यत्र मे नवीन परिस्थितियो की माँग के अनुरूप नयी धार पैदा करना वस्तुत विज्ञान और प्रजातन्त्र की आधारभूत प्रतिज्ञाओ और चिन्तन-पद्धतियो की सर्जनात्मक परिणतियाँ हैं जिन्हे स्वीकार किये बिना नवीन अर्थ-क्षमता से पुष्ट अनुभूति और उसे अकुरित करने वाली भाषा के बीच का अन्तर कम करके और नया अर्थ-स्तर निर्मित कर सकने की सारी छटपटाहट केवल प्रभाववादी कल्पना मे बूँद बूँद चूती रहेगी।

आज किसी भी सार्थक रचना को समझने के लिए किसी कला-प्रणाली मे दीक्षित होने की आवश्यकता नही रह गयी है—इस आवश्यकता की अनिवार्यता ही पहले रचनाकार और भावक के बीच व्यवधान का कारण रही है। आज रचना एक ऐसा सधिस्थल है जहाँ दो दृष्टियाँ एक साथ मिल कर किसी नये सृजनात्मक अर्थ-आयाम का सधान

करती है, और उस सधार का स्रोत वह मानव-सम्बन्ध है जो विज्ञान तथा प्रजातन्त्र की शक्तियों की बुनियाद पर एक अपेक्षाकृत अधिक ठोस यथार्थ और सक्रिय धरातल पर व्यक्ति के प्रत्येक विवेकपूर्ण निर्णय के साथ प्रतिबद्ध है। इस मानव-सम्बन्ध की सजग चेतना में परिस्थितियों के प्रति अधिक से अधिक जिम्मेदारी लेने का भाव और उसके लिए तैयारी निहित है, अतः वह क्रियात्मक होने के साथ-साथ अधिक नैतिक भी है। इस दृष्टि से देखें तो लगेगा कि आज 'नया' होने का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि आपका बोधयन्त्र विशिष्ट और काल-परीक्षित कलाभिरुचियों में कितना निष्णात है, आप किस सीमा तक अपने को विभोर होने दे सकते हैं, वरन् यह कि आपका बोधयन्त्र बौद्धिक रूप से कितना सक्रिय है, क्योंकि अंततः उसी से आप उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से अपने परिवेश की गत्यात्मक सौन्दर्यात्मक सम्भावनाओं से सम्पृक्त होते हैं, कि आपके मस्तिष्क-तंतुओं में कितनी झनझनाहट है क्योंकि उसके होने से ही वह तटस्थता, अनुभूति सत्य के प्रति वह निर्मम भाव स्तर बन सकता है जो भाषा के व्यक्त रूप में भावक पर आतंक बन कर नहीं छाता या उसे मोहाविष्ट एवं अभिभूत करता। भाषा के उस गत्यात्मक प्रयोग में रचनाकार भावक की बौद्धिक कला-संवेदनाओं को साहित्यिक-कलात्मक अभिरुचि के मानदण्डों के सहारे नहीं जाग्रत करता, वरन् उसे मानव-सम्बन्धों के भीतर ऐसी दृष्टि प्रदान करता है जहाँ किसी भी सभावित वस्तु मर्म का अस्तित्व हमेशा साहचर्य और सह-अनुभूति पर आधारित होता है। इस संभावित वस्तु-मर्म का बोध ही भावक को (और रचनाकार को भी) 'चकित' कर सकता है अन्य माध्यमों से जिस वस्तु मर्म तक पहुँचा जाता है वह केवल 'मुग्ध' ही कर सकता है। यह 'चकित' कर सकने की क्षमता ही सच्चे मानों में भाषा को सृजनात्मक और नया बनाती है।

ऊपर जो विचार अब तक किया गया उसमें ऐसा लग सकता है कि आज के लेखन में 'सर्जनात्मक भाषा' का स्तर निर्मित नहीं हो पाया है और मेरा तत्सम्बन्धी विवेचन कोरी परिकल्पना पर आधारित है। इस आशंका की ओर से मैं शुरू से ही सचेष्ट रहा हूँ। मैं यह मानता हूँ कि कलात्मक सचाई अपने रचना तत्त्वों के माध्यम से ही अपने को उपलब्ध कर सकती है, पर मैं यह नहीं मानता कि विचार-चिन्तन की परिधि रचना तत्त्वों की परिधि से एकदम बाहर की वस्तु है या परस्पर वे एक दूसरे के अस्तित्व का खण्डन करते हैं, या खण्डन करके ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। कुँवर नारायण का कहना है कि 'कवि अनिवार्यतः नहीं आवश्यकतः विचारक होता है।' इसमें निर्णय का जो विकल्प ध्वनित है उसे कलाकार की वरण की स्वतन्त्रता मान कर तरजीह दी जा सकती है, पर उस स्थिति को क्या कहेंगे जिसमें रचनाकार भाषा के उस नये सर्जनात्मक स्तर तक पहुँच कर भी उसके प्रति कोई सजग दृष्टिकोण नहीं बना पाया है? शब्दहीनता की उस छटपटाहट के भीतर नयी भाषा रचना की ओर बढ़ने के संकेत इधर की प्रकाशित कतिपय रचनाओं में मिलते हैं निर्मल वर्मा (लन्दन की एक रात) केदारनाथ सिंह ('सम्प्रति' में प्रकाशित कुछ कविताएँ), अजित कुमार, कृष्ण बल्देव वैद (उसका बचपन), लक्ष्मीकांत वर्मा ('नयी कविता—७' में प्रकाशित

कविता—'मि० उप्रेती'), श्रीकान्त वर्मा ('ज्ञानोदय' मे प्रकाशित कहानी—'कैद') जैसे लेखक अपनी भिन्न रचना सवेदना के बावजूद भाषा सम्बन्धी उन सकेतो को उदाहृत करते हैं। पर इसके साथ ही यह भी लगता है कि इन लेखको की भाषागत खोज प्राय प्रातिभ ज्ञान पर ही आधारित है किसी सक्रिय चेतना विन्दु पर नही। इसलिए ये छिटपुट सभावना सकेत एक सशक्त दिशा-सकेत नही बन पाये हैं।

भाषा रचना के सन्दर्भ मे स्वचेतनता का एक पक्ष और है शब्दो से अधिकतम अर्थ निचोड लेने और भाषा के अवयवो तथा उनके परस्पर सभावित आचरण के प्रति इस हद तक सजग हो जाने कि रचना द्वारा प्रक्षेपित अर्थ पर रचनाकार-व्यक्तित्व का चौकन्नापन छा जाय। रघुवीर सहाय की इधर की प्रकाशित कुछ रचनाओ मे यह स्थिति साफ दिखाई देती है। अज्ञेय के 'एक बूंद सहसा उछली' और 'अपने अपने अजनबी' की भाषा म भी यही चौकन्नापन झलकता है। विपिन कुमार अग्रवाल इस अतिशय सतर्कता की स्थिति को प्रयोगशीलता के धरातल पर अपने बोधयन्त्र को प्रखर करने के एक तरीके के रूप म ग्रहण करते है, पर उस बोधयन्त्र द्वारा वे क्या व्यक्त करना चाहते है—उनके रचनात्मक उन्मेषो की ठोस आधारभूमि क्या और कहाँ है—इसका स्पष्ट आभास नही मिलता। सम्भवत इसका कारण उनके बोधयन्त्र की अत्यन्त तीव्र गति और सक्रियता है, जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा सश्लिष्ट जीवन अनुभूतियो की रचनाधर्मी द्वन्द्वात्मकता के बजाय प्रत्यय-आश्रित द्वन्द्वात्मकता (जिसे ऑरतेगा इ गासे ने Physio mathematical reasoning कहा है) को ही रेखांकित करती सी लगती है।

पर स्वचेतन भाषा प्रयोग म इस प्रकार का जोखिम सदैव निहित होता ही है, वस्तुत इस जोखिम के परिप्रेक्ष्य मे ही कलाकार अपनी क्षमताओ की परख कर सकता है। भाषा प्रयोग के सम्बन्ध मे परिचित एव सम्पन्न अर्थ-दिशाओ की तरफ फूँक फूँक कर कदम रखने की परिमार्जित कला अभिरुचि की अपेक्षा वस्तु-सत्यों के सीधे साक्षात्कार म भाषा का किसी कथाकृति के उन 'गत्यात्मक चरित्रो' की तरह आचरण करना कही बेहतर है जो रचनाकार की पकड स छूट कर एक अपना बिल्कुल ही नया अर्थ-लोक रच लेते हैं।

[१९६४]

नये प्रतिमान : पुराने निकष

यह संयोग की ही बात है कि जिस समय लक्ष्मीकान्त वर्मा की पुस्तक 'नये प्रतिमान : पुराने निकष' मुझे उस पर विचार करने के लिए मिली, उनकी लेखमाला 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष' का 'कल्पना' में प्रकाशन आरम्भ हुआ। मेरा विचार है कि यह लेखमाला लक्ष्मीकान्त वर्मा की इस पुस्तक का एक अच्छा पूरक अध्ययन पेश करती है। 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष' देश के राष्ट्रीय संदर्भ और उसकी सांस्कृतिक-साहित्यिक परिणतियों के बारे में आत्मालोचन के ढंग पर उस पीढ़ी का चिन्तन प्रस्तुत करती है जो 'सन् ४२ में किशोरावस्था में थी और जिसने स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया।' यह पीढ़ी 'डिसएल्यूजण्ड' और पराजित पीढ़ी है— डिसएल्यूजण्ड अपनी अग्रज पीढ़ी की धुरीहीनता से, और पराजित इसलिए कि मूल्य-संक्रमण की अनेक स्थितियों में यथार्थ के व्यंग्य को भोगते हुए भी वह किसी निश्चित सत्य और 'दृष्टि' (विज़न) की उपलब्धि तक नहीं पहुँच सकी। उसका विरोध राजनीतिक स्तर पर एक ओर अग्रज-पीढ़ी के नेहरू जैसे अनर्गल स्वप्नद्रष्टा और समझौतावादी नेताओं के प्रति है, जिन्होंने अनेक राष्ट्रीय प्रश्नों के संदर्भ में उनकी युवा भावनाओं को और आदर्शों को बरगलाया था दूसरी ओर उन कम्युनिस्टों में भी है जो 'अराष्ट्रीय' और 'पूर्वनियतिवादी' हैं। इन्हीं दोनों के बीच लेखक की यह युवा पीढ़ी है जो दोनों ही किनारों से बार-बार टकराती हुई और उस टकराव की चेतना को तीव्रता से महसूस करती हुई नये मानव-मूल्यों की खोज के पथ पर अग्रसर होती रही।

इस टकराहट में जिस किस्म का व्यक्तित्व बनता है उसमें द्वन्द्व की चेतना एक स्थायी तत्व है। द्वन्द्व की इस चेतना की भूमि से ही 'नये प्रतिमान : पुराने निकष' में विभिन्न साहित्यिक प्रश्नों पर चिंतन किया गया है। इस मूल द्वन्द्व का संकेत पुस्तक के शीर्षक में ही निहित है। यह द्वन्द्व कभी आक्रोश और व्यंग्य बनकर व्यक्त हुआ है, कभी संशय और भटकाव बन कर, तो कभी मोह और मोह भंग बनकर। इसके साथ एक बेचैन प्रश्नशीलता और 'आदिम जिज्ञासा' भी है जो इन सारी स्थितियों के निर्मम विश्लेषण का रूप अख्तियार करती है और ऐसा लगने लगता है जैसे लेखक उस द्वन्द्व चेतना की सीमाओं—और एक स्तर पर अपने व्यक्तित्व की भी सीमाओं—से ऊपर किन्हीं तटस्थ निष्कर्षों तक पहुँचना चाहता है। यानी एक पीढ़ी-विशेष के चिन्तन को आज की 'नितान्त समसामयिक' पीढ़ी के चिन्तन तक ले जाना चाहता है। जहाँ तक इस

दूसरी बात का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मीकान्त वर्मा को इसमे बडी दूर तक सफलता मिली है। इसे उनके व्यक्तित्व की उपलब्धि माना जा सकता है। लेकिन यह याद रखना भी जरूरी है कि वे उस द्वन्द्व-चेतना की सीमाओ से ऊपर उठने म ही सफल हुए है, उससे मुक्त होने मे नही। उनके 'अवाँ गार्द' चिन्तन का अनुसरण करते समय भी रह-रहकर ऐसा आभास होता है जैसे उनके कथन और उनके विश्वास के बीच की कोई कडी छूट गई है—केवल पाठक के लिए ही नही, स्वय लेखक के लिए भी छूट गई है। पूरी पुस्तक मे जगह जगह विभिन्न प्रसगो सदर्भो मे जो प्राय खिझा देने वाला दुहराव भरा पडा है उसके पीछे उनके चिन्तन का यही सकट व्यक्त होता है उनके लेखक का 'लस्टमपस्टमपन' उतना नही।

आज की समसामयिक पीढी की अनुभूति-दृष्टि एव मन स्थिति को लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपनी उदार 'साहित्यिक सहानुभूति' और 'रागात्मक एकात्मकता' से समझने और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा की है। इसमे जो चीज सबसे अधिक सहायक होती है वह है लेखक का अपनी पूर्व-पीढी से मोहभग और तज्जनित अनास्था, कटुता, व्यग्य-विद्रूप एव 'सिनिसिज्म' और अनुभूत-ससार की अराजक स्थिति मे नये मानवीय मूल्यो की खोज की छटपटाहट। ये दोनो ही स्थितियाँ अपने अमूर्त गुणो के कारण किसी भी काल के सक्रमणजन्य सकटबोध मे एक पीढी को दूसरी पीढी से जोड देती है। आने वाली हर नई पीढी शायद हमेशा अपनी पूर्वपीढी से यह सकटबोध ही विरासत मे पाती है। लक्ष्मीकान्त वर्मा का सकटबोध और आज की पीढी का सकटबोध इस दृष्टि से एक ही भूमि पर प्रतिष्ठित हैं, वैसे भी दो पीढियो के अन्तर मे विधायक तत्व यह व्यापक सकटबोध नही हुआ करता, बल्कि मूल्य के प्रति दृष्टिकोण हुआ करता है, और इस दृष्टिकोण का निर्धारण बहुत-कुछ उस परिवेश के हाथ मे होता है जिसमे एक पीढी अपने को पाती है। इसीलिए हो सकता है कि जिन मूल्यो के लिए पूर्व-पीढी सब-कुछ करने को तैयार हो, वे अगली पीढी को बिल्कुल असगत और अर्थहीन मालूम पडें। लक्ष्मीकान्त की पीढी मे ऐन्द्रिक सवेदनो मे अनुभूति-सत्यो और मूल्यो की यात्रा चलती है, और मूल्यो का निर्माण अनुभूतियो के भीतर से होता है। मुझे ऐसा लगता है कि आज की पीढी के सामने मूल्य न होकर मूल्य-'रिफ्लेक्सेज' हैं, जो उसकी अनुभूतियो को परिचालित करते हैं। मूल्य और मूल्य-'रिफ्लेक्स' मे अन्तर यह है कि मूल्य अर्जित किए जाते हैं और उसका एक स्थायी रूप होता है (जो मूल्य 'झूठे' पड जाते हैं उनका भी स्थायी रूप 'स्मृति' मे होता है) जबकि मूल्य-'रिफ्लेक्सेज' परिवेश के साथ व्यक्ति के गतिशील सम्बन्ध-बोध मे ही अस्तित्व रख सकते हैं, अत उनका न तो कोई स्थायी रूप होता है न उनके 'झूठे' पड जाने से उनके साथ किसी 'स्मृति' के जुडने की स्थिति होती है। मूल्य अनुभूतियो के 'आचरण' की चरम परिणति होते हैं, जबकि मूल्य-रिफ्लेक्सेज म अनुभूतियाँ एक खास किस्म की मानसिकता म स्थितियो के प्रति प्रतिक्रियाशील होती हैं। मूल्य-'रिफ्लेक्स' एक ऐसी खोखल है जिसमे स मूल्य उठ चुका है, लेकिन जो अपने अनु आकारात्मक अस्तित्व के कारण ही व्यक्ति मे प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। मूल्य

और मूल्य विघटन एक ही मुख-संदर्भ के दो मुहावरे हो गये हैं। इसी प्रकार इस बात से पता चलता है कि कौन-सा मुहावरा किसके पास है और मुहावरे का यह अन्तर ही सत्तर वाली पीढ़ी की चिन्तन-दृष्टि को आज की नयी पीढ़ी के मिजाज से अलग कर देता है।

सबसे पहले यह अन्तर उन मुद्दों के सम्बन्ध में सहज ही देखा जा सकता है जिन पर बहस की कोई गुंजाइश नहीं है। आज की पीढ़ी के लिए वे मुद्दे समय की दृष्टि से अप्रासंगिक हो चुके हैं। उदाहरणार्थ रस सिद्धान्त या प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से कला-सृजन का मूल्यांकन करने की बात आज की पीढ़ी के लिए इतनी बेमानी और वाहियात सिद्ध हो चुकी है कि उस पर लक्ष्मीकान्त वर्मा की-सी गम्भीरता से चर्चा या बहस करना हास्यास्पद है। यही बात नवीन और अश्लील के प्रश्न का सच है। यह प्रश्न लगता है कि उन प्रश्नों में से एक है जिस पर कभी भी अन्तिम परिणाम तक नहीं पहुँचा जा सकता, और इसीलिए दिमागी कसरत के लिए इस पर कभी भी डिबेट तो की जा सकती है पर अपनी प्रकृति के इस शाश्वतपन के कारण ही ऐसे प्रश्न आज की पीढ़ी की प्रौढ़ मनःस्थिति में ऊब पैदा करते हैं। इसी प्रकार साहित्य स्वान्तः सुखाय है या बहुजन हिताय वाली बहस भी सिर्फ एकेडमिक दिलचस्पी की चीज़ होकर रह गई है।

इसके बाद उन कुछ शब्दों का अध्ययन किया जा सकता है जो लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी के अपने शब्द हैं और जिनका इस्तेमाल प्रस्तुत पुस्तक में लगभग शुरू से आखिर तक किया गया है। ये शब्द अपनी जगह पर अलग अलग प्रत्यय हैं जो मिलकर उस पीढ़ी की साहित्यिक-सर्जनात्मक मान्यताओं का चित्र पेश करते हैं—क्षणवाद, स्वानुभूत आत्मानुभूति, आन्तरिक व्यवस्था, विशुद्ध मानव मुक्ति, मानव मूल्य, साधक कला सृजन, यथार्थ भोग, दायित्व बोध, क्षण मुक्त यथार्थ, व्यक्ति मर्यादा, व्यक्ति सत्य, विवेक संकल्प, पावनता आदि आदि। ये शब्द प्रत्यय जिस आन्दोलन के दौरान उपजे उसकी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की चर्चा हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्षों में की गई है। यहाँ उस आन्दोलन की सार्थकता-असार्थकता का विवेचन हमारा अभीष्ट नहीं है पर इतना कहा जा सकता है कि किसी आन्दोलन के दरमियान उपजे शब्द प्रत्यय तथा अवधारणाएँ मूल रूप में तब तक ही अपना अर्थ और चमक कायम रख सकते हैं जब तक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें उस आन्दोलन चेतना की रोशनी मिलती रहे, खास कर साहित्य में आ जाने के बाद। आन्दोलन का संदर्भ कट जाने से उन शब्दों प्रत्ययों में आन्तरिक परिवर्तन भी घटित हो सकते हैं और यदि इस परिवर्तन की क्षमता या लोच उनमें हुई तो वे आगे भी चलते रह सकते हैं। केवल जिस आन्दोलन की वे उपज थे उसकी स्मृति क्रमशः धुंधली पड़ जाती है। कोई भी प्रत्यय या अवधारणा अपने भीतर निहित अन्तर्विरोध के कारण ही आगे भी जीवित रह सकती है क्योंकि अन्तर्विरोध की स्थिति में ही उसमें परिवर्तन और विकास सम्भव है। अन्तर्विरोध से शून्य प्रत्यय ठस होते हैं उनके मूल में किसी विकल्प की गुंजाइश नहीं होती इसी से बदलते समय के साथ वे चल नहीं पाते और सक्रिय चिन्तन में केवल गतिरोध ही पैदा करते हैं। इस एक

तरह मे सौभाग्य ही मानना चाहिए कि लक्ष्मीकान्त की पीढी का आन्दोलन अन्तर्विरोधों मे शून्य नही था। इसीलिए उस आन्दोलन को मूर्त्त रूप देने वाले शब्द-प्रत्यय भी अपने भीतर निहित अन्तर्विरोध के कारण अपने अर्थ और सदर्भ मे बराबर बदलते और विकसित होते चले गए। उनका न सिर्फ अर्थ-स्तर बदला बल्कि उसमे कुछ नितान्त भिन्न अर्थ-स्तर भी जुडे, और उन्हे प्राय ही अब उनके पुराने नामो से नही जाना जाता। इसका एक बहुत मामूली-सा कारण यह है कि आज की पीढी का साहित्यकार अपने चिन्तन एव मन स्थिति को उतने भारी-भरकम शब्दो वाली महिमामडित भाषा मे व्यक्त नही कर सकता।

लेकिन यहाँ रुक कर उस माहौल पर भी एक नजर डाल लेना जरूरी है जिसमे इस तरह की भाषा सम्भव हो सकती थी। उस माहौल मे एक ओर प्रगतिवाद का खोखला समाजवादी यथार्थ अपना शोर मचा रहा था, और दूसरी ओर 'स्वर्णकलश', 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णजाल' के ताने-बाने म नपुसक महामानव अवतरित किया जा रहा था।' (पृष्ठ ६३) महामानवो की सस्कृति तो खैर हवाई थी ही और उससे हवाई फायर करके भी जूझा जा सकता था, लेकिन मार्क्सवाद-प्रेरित प्रगतिवाद की कट्टर वस्तुवादी विचारधारा से लडने के लिए क्या नितान्त आत्यन्तिक अनुभव स्रोतो से निकली भाषा का सौन्दर्यशास्त्र का शास्त्रीय जामा पहना कर उसे उतना ही रूढ और अर्थहीन बनने देना जरूरी था जैसा कि प्रगतिवाद की भाषा के साथ हुआ था? इसके साथ ही आज जब हम सोचते है कि लक्ष्मीकान्त की पीढी ने प्रगतिवाद की इस हाड-मांस वाली सत्ता को 'अनुभूति', 'दर्द', 'आत्म-सत्य', 'सकल्प', 'भोग', 'मर्म-वेदना' जैसे 'विशुद्ध मानववादी' भाव-सूक्ष्म हथियारो से लडकर तोडना चाहा था तो कई प्रश्न जाग्रत हो उठते हैं। जिस प्रकार लक्ष्मीकान्त की अग्रज पीढी ने देश से विदेशी शासन-सत्ता के निष्कासन को वास्तविक स्वतन्त्रता का पर्याय समझा और स्वतन्त्रता को किसी सुनिश्चित कार्यक्रम के परिप्रेक्ष्य म मानव-भविष्य की कोई स्पष्ट परिकल्पना नही दी, उसी तरह लक्ष्मीकान्त की पीढी ने एक मूर्ति तोडने मे किसी विकल्प का प्रारूप नही रखा। उसने उस विकल्प के अधिकार की माँग जरूर बुलन्द की, पर उस माँग-पूर्ति की प्रणाली को अस्पष्ट ही रह जाने दिया। उनकी लडाई अनिवार्य थी, पर उसे लडकर एक तरह से उन्होने आधी लडाई ही लडी। फलस्वरूप मूर्ति हटने के बाद हम एक ऐसा अनिश्चय और सशय पाते हैं जिसम एक ओर तो अनुभूतिमात्र को सर्जन के लिए पर्याप्त समझा जाता है, व्यक्तिगत सत्य को सब व्यवस्थाओ और सत्यो से ऊपर माना जाता है, बल्कि इससे भी आगे बढकर 'क्षण' का आविष्कार किया जाता है और 'क्षण' के यथार्थ को इतिहास सत्य से श्रेष्ठ करार दिया जाता है, तो दूसरी ओर अनुभूति की सार्थकता, दायित्व-बोध, मानव-मूल्य, विविधता, समग्र भावबोध और व्यापक सत्य स जुडने की स्थिति पर भी बल दिया जाता है। एक ओर कलाकार को अराजक होने की हद तक स्वतन्त्र होने की छूट देने का औचित्य बताया जाता है, कलाकार के 'ऊलजलूलपन' और 'एब्सर्ड' होने को कलासृजन की आन्तरिक आवश्यकता घोषित किया जाता है तो दूसरी ओर कलाकार स

और मूल्य-रिफ्लेक्स एक ही युग-संदर्भ में दो मुहावरे हो सकते हैं, अन्तर इस बात में पड़ता है कि कौन-सा मुहावरा किस के पास है, और मुहावरे का यह अन्तर ही लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी की चिन्तन-दृष्टि को आज की नई पीढ़ी के मिजाज से अलग कर देता है।

सबसे पहले यह अन्तर उन मुद्दों के सम्बन्ध में सहज ही देखा जा सकता है जिन पर बहस की कोई गुंजाइश नहीं है। आज की पीढ़ी के लिए वे मुद्दे बहस की दृष्टि से अप्रासंगिक हो चुके हैं। उदाहरणार्थ रस-सिद्धान्त या प्राचीन शास्त्रीय पद्धति में कला सृजन का मूल्यांकन करने की बात आज की पीढ़ी के लिए इतनी बेमानी और वाहियात सिद्ध हो चुकी है कि उस पर लक्ष्मीकान्त वर्मा की-सी गम्भीरता से चर्चा या बहस करना हास्यास्पद है। यही बात श्लील और अश्लील के प्रश्न को लेकर है। यह प्रश्न लगता है कि उन प्रश्नों में से एक है जिस पर कभी भी अन्तिम परिणाम तक नहीं पहुँचा जा सकता, और इसीलिए दिमागी कसरत के लिए इस पर स्कूली 'डिबेट' तो की जा सकती है, पर अपनी प्रकृति के इस खोखलेपन के कारण ही ऐसे प्रश्न आज की पीढ़ी की प्रौढ़ मनस्थिति में ऊब पैदा करते हैं। इसी प्रकार साहित्य स्वान्तः सुखाय है या 'बहुजन हिताय' वाली बहस भी सिर्फ एकेडेमिक दिलचस्पी की चीज होकर रह गई है।

इसके बाद उन कुछ शब्दों का अध्ययन किया जा सकता है, जो लक्ष्मीकान्त की पीढ़ी के अपने शब्द हैं और जिनका इस्तेमाल प्रस्तुत पुस्तक में लगभग शुरू से आखिर तक किया गया है। ये शब्द अपनी जगह पर अलग-अलग प्रत्यय हैं जो मिलकर उस पीढ़ी की साहित्यिक-सृजनात्मक मान्यताओं का चित्र पेश करते हैं—वैयक्तिक स्वातन्त्र्य, आत्मानुभूति, आन्तरिक व्यवस्था, विशुद्ध मानव मुक्ति मानव मूल्य, साधक कला-सृजन, यथार्थ भोग, दायित्व-बोध, क्षण-युक्त यथार्थ, व्यक्ति मर्यादा, व्यक्ति सत्य, विवेक, संकल्प, पावनता आदि-आदि। ये शब्द-प्रत्यय जिस आन्दोलन के दौरान उपजे उसकी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की चर्चा 'हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वर्ष' में की गई है। यहाँ उस आन्दोलन की सार्थकता-असार्थकता का विवेचन हमारा अभीष्ट नहीं है, पर इतना कहा जा सकता है कि किसी आन्दोलन के दरमियान उपजे शब्द प्रत्यय तथा अवधारणाएँ मूल रूप में तब तक ही अपना अर्थ और चमक कायम रख सकते हैं जब तक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें उस आन्दोलन-चेतना की रोशनी मिलती रहे, खास कर साहित्य में आ जाने के बाद। आन्दोलन का संदर्भ बदल जाने से उन शब्दों-प्रत्ययों में आन्तरिक परिवर्तन भी घटित हो सकते हैं और यदि इस परिवर्तन की क्षमता या लोच उनमें हुई तो वे आगे भी चलते रह सकते हैं। केवल जिस आन्दोलन की वे उपज थे उसकी स्मृति क्रमशः धुँधली पड़ जाती है। कोई भी प्रत्यय या अवधारणा अपने भीतर निहित अन्तर्विरोध के कारण ही आगे भी 'जीवित' रह सकती है क्योंकि अन्तर्विरोध की स्थिति में ही उसमें परिवर्तन और विकास सम्भव है। अन्तर्विरोध से शून्य प्रत्यय 'ठस' होते हैं, उनके मूल में किसी विकल्प की गुंजाइश नहीं होती, इसी से बदलते समय के साथ वे चल नहीं पाते और सक्रिय चिन्तन में केवल गतिरोध ही पैदा करते हैं। इस एक

तरह मे सौभाग्य ही मानना चाहिए कि लक्ष्मीकान्त की पीढी का आन्दोलन अन्तर्विरोधो से शून्य नही था। इसीलिए उस आन्दोलन को मूर्त्त रूप देने वाले शब्द-प्रत्यय भी अपने भीतर निहित अन्तर्विरोध के कारण अपने अर्थ और सदर्भ मे बराबर बदलते और विकसित होते चले गए। उनका न सिर्फ अर्थ-स्तर बदला बल्कि उसमे कुछ नितान्त भिन्न अर्थ-स्तर भी जुडे, और उन्हे प्राय ही अब उनके पुराने नामो से नही जाना जाता। इसका एक बहुत मामूली-सा कारण यह है कि आज की पीढ़ी का साहित्यकार अपने चिन्तन एव मन स्थिति को उतने भारी-भरकम शब्दो वाली महिमामडित भाषा मे व्यक्त नही कर सकता।

लेकिन यहाँ रुक कर उस माहौल पर भी एक नजर डाल लेना जरूरी है जिसमे इस तरह की भाषा सम्भव हो सकती थी। उस माहौल मे एक ओर प्रगतिवाद का खोखला समाजवादी यथार्थ अपना शोर मचा रहा था, और दूसरी ओर 'स्वर्णकलश', 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णजाल' के ताने-बाने मे नपुसक महामानव अवतरित किया जा रहा था।' (पृष्ठ ६३) महामानवो की सस्कृति तो खैर हवाई थी ही और उससे हवाई फायर करके भी जूझा जा सकता था, लेकिन मार्क्सवाद प्रेरित प्रगतिवाद की कट्टर वस्तुवादी विचारधारा से लडने के लिए क्या नितान्त आत्यन्तिक अनुभव स्रोतो से निकली भाषा का सौन्दर्यशास्त्र का शास्त्रीय जामा पहना कर उसे उतना ही रूढ और अर्थहीन बनने देना जरूरी था जैसा कि प्रगतिवाद की भाषा के साथ हुआ था ? इसके साथ ही आज जब हम सोचते है कि लक्ष्मीकान्त की पीढी ने प्रगतिवाद की इस हाड-मांस वाली सत्ता को 'अनुभूति', 'दर्द', 'आत्म-सत्य', 'सकल्प', 'भोग', 'मर्म-वेदना' जैसे 'विशुद्ध मानववादी' भाव सूक्ष्म हथियारो से लडकर तोडना चाहा था तो कई प्रश्न जाग्रत हो उठते है। जिस प्रकार लक्ष्मीकान्त की अग्रज पीढी ने देश से विदेशी शासन-सत्ता के निष्कासन को वास्तविक स्वतत्रता का पर्याय समझा और स्वतत्रता को किसी सुनिश्चित कार्यक्रम के परिप्रेक्ष्य मे मानव-भविष्य की कोई स्पष्ट परिकल्पना नही दी, उसी तरह लक्ष्मीकान्त की पीढी ने एक मूर्ति तोडने मे किसी विकल्प का प्रारूप नही रखा। उसने उस विकल्प के अधिकार की माँग जरूर बुलन्द की, पर उस माँग पूर्ति की प्रणाली को अस्पष्ट ही रह जाने दिया। उनकी लडाई अनिवार्य थी, पर उसे लडकर एक तरह से उन्होंने आधी लडाई ही लडी। फलस्वरूप मूर्ति हटने के बाद हम एक ऐसा अनिश्चय और सशय पाते है जिसमे एक ओर तो अनुभूतिमात्र को सर्जन के लिए पर्याप्त समझा जाता है, व्यक्तिगत सत्य को सब व्यवस्थाओ और सत्ता स ऊपर माना जाता है, बल्कि इससे भी आगे बढकर 'क्षण' का आविष्कार किया जाता है और 'क्षण' के यथार्थ को इतिहास सत्य से श्रेष्ठ करार दिया जाता है, तो दूसरी ओर अनुभूति की सार्थकता, दायित्व-बोध, मानव मूल्य, विविधता, समग्र भावबोध और व्यापक सत्य स जुडने की स्थिति पर भी बल दिया जाता है। एक ओर कलाकार को अराजक होने की हद तक स्वतन्त्र होने की छूट देने का औचित्य बताया जाता है, कलाकार के 'ऊलजलूलपन' और 'एब्सर्ड' होने का कलासृजन की आन्तरिक आवश्यकता घोषित किया जाता है तो दूसरी ओर कलाकार स

दृष्टि (विजन) सम्पन्न होने की भी अपेक्षा की जाती है। व्यवस्था का अस्वीकार जितनी तीव्रता से किया जाता है, उतनी ही आतुरता से सन्तुलन, तार्किक संगति और सामंजस्य की अनिवार्यता भी प्रतिपादित की जाती है। एक ओर शास्त्रीय चिन्तन-पद्धति को दकियानूसी और आज की संवेदना के संदर्भों को समझने समझाने में नाकाफी करार दिया जाता है और दूसरी ओर शुद्ध और गरिष्ठ शास्त्रीय चिन्तन और भाषा शैली में सौन्दर्यवादी मान मूल्यों का विश्लेषण और व्याख्या की जाती है (द्रष्टव्य है 'सौन्दर्य-सत्त्व अनुभूति और व्यवस्था', 'अनुभूति प्रज्ञा और दृष्टि', अनुभूति एवं बोधत्रयी' आदि निबन्ध)। यही अन्तर्विरोध वहाँ भी दिखाई देता है जहाँ आधुनिक संवेदना और यथार्थ को वहन करने में नई कविता की अभिव्यक्ति-संकट के संदर्भ में 'थाउर्ड भाषा' का विरोध और 'ताजी कविता' की प्रौढ़ मन स्थिति के अनुरूप 'रागात्मक अतिरंजना, शब्दों की अतिरंजना' आदि से रहित भाषा की वकालत नितान्त 'थाउर्ड भाषा' में की गई है और विरोधी पक्ष की जड़ उखाड़ने में शब्दों, बिम्बों का जी खोलकर इस्तेमाल किया गया है। और इस पर मजा यह कि आज की जटिल एवं प्रौढ़ मन स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए आदर्श भाषा के रूप में मैथिलीशरण गुप्त की भाषा का समर्थन किया गया है जिसमें 'इतनी शक्ति तो थी कि वह भावों की सम्प्रेषणीयता में सहायक होती थी' और उस भाषा में वह क्षमता थी कि वह भाव को ऊपर और भाषा को नीचे, भाव को आगे और भाषा को पीछे अनुगामिनी बना कर ले चलती थी।' (पृष्ठ ३०१)। यहाँ यह मालूम करना मुश्किल है कि लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'सम्प्रेषणीयता' का किस अर्थ में प्रयोग किया है। (इसी तरह कई निबन्धों में 'रागात्मक ऐश्वर्य' को हेय बताते हुए 'आभिजात्य' को किस अर्थ में स्पृहणीय गुण माना गया है यह समझ में नहीं आता।)। फिर मैथिलीशरण गुप्त की भाषा यदि किसी वजह से किसी का आदर्श हो सकती है या नहीं हो सकती है तो इसलिए कि उसमें न तो भाव आगे रहते हैं न भाषा पीछे, बल्कि दोनों साथ साथ रहते हैं, कदम ब-कदम साथ। उस भाषा से नपा-तुला जितना कहलाया जाता है उतना ही वह कहती है, उसमें भावों को 'कुदकराबाजी' करने की छूट नहीं है, न भाषा को पीछे छोड़कर सरपट आगे दौड़ जाने की। वह पूर्णत मर्यादित आचरण करने वाली भाषा है उसमें लोच नहीं है, और यही चीज उसे आज की जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अनुपयुक्त बना देती है।

इन समस्त अन्तर्विरोधों की एक व्याख्या तो उस जटिल मन स्थिति के संदर्भ में की जा सकती है जो आज एक आधुनिक मनुष्य की नियति बन चुकी है। एक दूसरी व्याख्या उस 'मनोग्रंथि' के रूप में भी की जा सकती है जो संवेदना के विभिन्न स्तरों पर वस्तुस्थितियों की एक साथ प्रतिक्रिया होने और प्रतिक्रिया के प्रत्येक स्तर को अपनी पूरी ईमानदार दृष्टि सौंपने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। इसीलिए अराजकता और आदिम व्यवस्था की हिमायत के पीछे यदि यह भय प्रतीत होता है कि कहीं व्यवस्था परम्परावादी शास्त्रीय चिन्तन की रूढ़ पद्धति और कम्युनिस्ट विचारधारा की पूर्वनिश्चित आरोपित व्यवस्था न बन जाए तो सन्तुलन, तार्किक संगति, समग्रता और सार्थकता

पर आग्रह के पीछे यह भय काम करता दिखाई देता है कि कहीं 'विशुद्ध मानववादी' मुक्ति, व्यवस्था और अराजकता का ऊलजलूलपन एक ओर चमत्कार एवं 'फंटेसी' की अनर्गलता और भूखी बीटनिक पीढ़ी की रोमांटिक भावुकता में न बदल जाये और दूसरी ओर कम्युनिस्टों और अराजकतावादियों की रक्त-क्रान्ति तथा विध्वंसक विचारधारा प्रजातांत्रिक समाज व्यवस्था के आधारों एवं बुनियादी मूल्यों को ही न ध्वस्त कर दे। इसीलिए जहाँ कहीं भी इस तरह की घोषणा की गई है कि 'साहित्य को तो केवल अनुभूतिप्रधान होना चाहिए (पृष्ठ ६६) या 'व्यक्ति-मर्यादा को व्यक्तिगत उपलब्धि और व्यक्ति-सत्य की अर्जित विभिन्नता तक स्वीकार करने में ही सम्पूर्ण मानव (होल मैन) की दृष्टि मिल सकती है' (पृष्ठ ७२) या यह कि 'प्रत्येक रचना अथवा कलाकृति की सार्थकता अनुभूत सत्य होना है न कि शिव होना। मेरा तो व्यक्तिगत मत यह है कि प्रत्येक अनुभूत सत्य की उपलब्धि अपने-आप में शिव है' (पृष्ठ ७०), वहाँ यह भी चिन्ता व्यक्त की गई है कि 'व्यक्ति की सत्ता भी कायम रहे और सामूहिक चेतना के माध्यम से सामाजिक मूल्यों का अस्तित्व भी सजग रहे (पृष्ठ १८७) या 'व्यक्ति की सत्ता को उतने ही सबल रूप में स्वीकार करना होगा जितना कि सामाजिक तत्वों को' (पृष्ठ १६७) या यह कि 'आन्तरिक स्तर की अनुभूति को भी व्यापक चेतन विश्व से कुछ-न-कुछ सापेक्षता स्थापित करनी ही पड़ती है' (पृष्ठ २७०)। इस प्रकार ऐसा लगने लगता है कि लक्ष्मीकान्त वर्मा व्यक्तिवादियों के बीच सबसे अधिक सामाजिकतावादी हैं और सामाजिकतावादियों के बीच सबसे अधिक व्यक्तिवादी। फिर भी कुल मिलाकर जोर उनका अनुभूति पर ही है, और कभी-कभी अपनी इस द्वन्द्व चेतना से उबरकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'अनुभूति की प्रक्रिया में व्यक्ति-सत्य और बाह्य सत्य के कक्ष बाँटे नहीं जा सकते' (पृष्ठ २७१)। इस तरह अनुभूति को सही-गलत का अन्तिम प्रमाण मानकर वे निश्चित हो जाते हैं। यहाँ सवाल यह नहीं है कि अनुभूति के सिवा भी किसी को प्रमाण बनाया जा सकता है या नहीं, बात सिर्फ इतनी है कि अनुभूति से पूर्ण अराजकता का रास्ता जितना सीधा है, अनुभूति से मूल्य सृजन और मूल्य-दृष्टि का उतना नहीं। अनुभूति की प्रक्रिया अपने आप में कल्याणकारी है और वह बिना किसी व्यक्ति-निरपेक्ष सत्ता या अनुशासन के मनुष्य को अन्ततः शुभ की ओर ले जाती है, इसे प्रतिपादित करने के लिए लक्ष्मीकान्त के पास या तो सौन्दर्यवादी अमूर्त विश्लेषण-पद्धति है जिसमें वे अनुभूति के सारे दोष भावुकता के मत्थे मढ़कर अनुभूति को विशिष्ट अनुभूति में बदल देते हैं या फिर 'संकल्प शक्ति', 'आत्मबल', 'इच्छाशक्ति', 'वैयक्तिक क्रियाशीलता' (पृष्ठ ५२) आदि के हथियार हैं जिनसे वे अतीत रूढ़ि, क्लासिकी, नैतिकतावादियों और व्यक्ति-निरपेक्ष बाह्य व्यवस्थावादियों से लड़ाई लड़ते हैं। शायद कृति-साहित्य के विवेचन की यह सीमा होती है कि उसमें कुछ इसी प्रकार के हथियार इस्तेमाल करने होते हैं। शायद इस प्रकार की लड़ाई के लिए अधिक उपयुक्त हथियार राजनीति के क्षेत्र में होते हैं। लक्ष्मीकान्त इन हथियारों के वजूद से अपरिचित हों ऐसी बात नहीं। जहाँ भी मौका मिला है वे एक क्षेत्र के हथियारों का दूसरे क्षेत्र में भी इस्तेमाल करने में परहेज

पिछले दशक के युवालेखन के बारे में कुछ मूलभूत बातें

पिछले दशक (१९६०-७०) के युवालेखन पर दृष्टिपात करने पर एक बात जो सहज ही उभर कर आती है वह यह कि इस दौरान हमारी जीवन प्रक्रिया तेज हुई है और इससे सृजन प्रक्रिया में भी कुछ मूलभूत परिवर्तन हुए हैं। लेकिन पिछले दशक के युवालेखन को देखने से यह बात भी उतनी ही स्पष्टता से उभरकर आती है कि तेज होती गई जीवन-प्रक्रिया के मुकाबले सृजन प्रक्रिया में तेजी नहीं आ पाई है। इस स्थिति के कारणों और उनकी सर्जनात्मक परिणतियों के विश्लेषण में जाने के पूर्व यहाँ मैं इतना संकेत दे देना चाहूँगा कि पिछले दशक का ज्यादातर युवालेखन सर्जनात्मक अपेक्षाओं को जगा कर उन्हें पूरा न कर पाने का लेखन रहा है। ऐसा चाहे जीवन प्रक्रिया और सृजन-प्रक्रिया के बीच किसी बुनियादी अन्तर्विरोध के कारण हो या स्वयं रचनाकार के असामर्थ्य के कारण, पर अपेक्षाएँ जगा कर उन्हें पूरा न कर पाने में जो एक प्रकार की नैतिक जिम्मेदारी निहित है उसका अहसास युवा लेखक को भी है। दरअसल यह नैतिक अहसास ही वह ध्रुव बिन्दु है जिससे प्रतिक्रिया यदि एक ओर गैर-जिम्मेदार लेखन के मूल में है तो दूसरी ओर जिम्मेदार लेखन के मूल में भी है। लेकिन इसके विस्तार में जाने के पहले जीवन-प्रक्रिया और सृजन प्रक्रिया के बीच उत्पन्न उस अन्तराल को अर्थ सन्दर्भ देने के लिए एक पृष्ठभूमि प्रदान करना आवश्यक है।

उस ऐतिहासिक मोड़ को जिसके आगे का रास्ता युवालेखन की यात्रा से सीधे जुड़ जाता है चाहे उसे हम नेहरू युग की समाप्ति की संज्ञा दें या 'सन् साठ के बाद' जैसी सीमा विभाजक काल रेखा से परिभाषित करें, इस स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता कि तभी से वह प्रक्रिया अपने नंगे और क्रूर रूप में तेज होती गई है जिसे व्यक्ति के निर्वासन की प्रक्रिया कहा जा सकता है। व्यक्ति के निर्वासन की धारणा को हिन्दी में अभी तक प्रायः समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के चश्मे से ही देखा जाता रहा है, सर्जनात्मकता के सन्दर्भ में इस पर विचार लगभग नहीं के बराबर हुआ है—जो कुछ हुआ भी है वह भी समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के साहित्यिक उच्छिष्ट के रूप में (इसका एक अपेक्षाकृत ताजा उदाहरण डॉ. रामविलास शर्मा का आलोचना-६ में प्रकाशित 'अस्तित्ववाद और नई कविता' शीर्षक लेख है)। आलोचना-४ में युवालेखन पर बहस का प्रारूप

प्रस्तुत करते समय डॉ० नामवर सिंह ने भी मूलत व्यक्ति के निर्वासन को मार्क्स की व्याख्या को ही ग्रहण किया है, इस व्याख्या को एक मतवाद के रूप में न लेकर उन्होंने सगत ढँग से हिन्दी के युवालेखन से जोड़ने की कोशिश की है। उनके अनुसार समसामयिक परिवेश से ससक्ति ने व्यक्ति को 'बाहर' (निर्वासित) कर दिया है—असत्य और बेईमानी और शोषण पर आधारित व्यवस्था मे घुल पाने और उसका अग बन कर उसके रग पर ही जीवित रह सकने मे अशक्य इस दौर का व्यक्ति 'बाहर' कर दिया गया है। चूकि पिछले दशक मे समसामयिक जीवन बोध को तीव्र करने में सबसे अधिक हिस्सा राजनीति का रहा है, अत साहित्य के सन्दर्भ में राजनीति द्वारा लाए गए व्यक्ति के निर्वासन की चर्चा यहाँ अप्रासगिक न होगी।

जो पीढ़ी स्वतन्त्रता के बाद जन्मी वह पिछले दशक मे ही वयस्क हुई। यह पीढ़ी चार आम चुनावों के माहौल में पली पुसी पीढ़ी है और राजनीति इसके लिए किसी युटोपिया को सिद्ध कर दिखाने का सिद्धान्त अथवा आदर्श न होकर उसके पल-पल कठिन होते जाते जीवन सघर्ष को तेज करते जाने की प्रक्रिया का ही नाम है। हिन्दुस्तान के इस दौर मे राजनीति एक ऐसा प्रजातन्त्र है जो व्यक्ति के मूल अधिकारो और विकास की सभावनाओ की चेतना को जाग्रत करता है और फिर एक सुस्त व्यवस्था और अकल्पनाशील प्रतिष्ठान द्वारा उन अधिकारो के हनन का अनुभव भी देता है। इस दौर की सिद्धान्तहीन राजनीति के इस अनुभव की नेहरूयुग की राजनीति से जरा तुलना कीजिए। नेहरूयुग की राजनीति 'भारत की खोज' के आधार पर आशावाद से ग्रस्त एक ऐसी राजनीति थी जिसके पैर यथार्थ पर कम स्वर्णिम मानव-भविष्य के स्वप्न पर अधिक टिके थे। ऐसी आदर्शवादी राजनीति का अन्त यदि मोहभग मे हो तो कोई आश्चर्य नही। यह राजनीति मुख्यत राजनेताओं की राजनीति थी—प्रतिभा के गौरव से सम्पन्न विशिष्ट राजनेताओ की राजनीति—और ऐसी राजनीति के कारण हुए मोहभग म भी एक प्रकार की ट्रैजिक शान थी। नेहरूयुग का साहित्य इसी शानदार मोहभग का साहित्य है। इसके विपरीत नेहरूयुग के बाद की राजनीति आम आदमी की राजनीति है। छात्र-असन्तोष, घेराव और दल-बदल मे आम आदमी की ही नस बजती है। जिस राजनीति के अन्तर्गत न्यूनतम कार्यक्रम का झण्डा पार्टी सिद्धान्तो से चिपके को सिलकर बनाया गया हो वहाँ मोहभग की कोई गुजाइश रह ही नही जाती आम आदमी की राजनीति स्थिति के इस कटु स्वीकार से ही शुरू होती है पिछले दशक का साहित्य बुनियादी तौर पर इस स्थिति के कटु स्वीकार और उसमें उत्पन्न प्रतिक्रियाओ का साहित्य रहा है।

राजनीति को यदि एक जीवित मानव-समूह की आशाओं-आकाक्षाओ को मूर्त करने वाली द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओ के रूप मे परिभाषित करें तो हम यह कह सकते हैं कि यह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के पिछले दशक मे ही मुखर हुई है। वैसे भी नेहरूयुग की प्रगतिशीलता' और 'आधुनिकता' के मूल मे विज्ञान की वह चुनौती ही थी जो गौरवशाली सांस्कृतिक परम्पराओं वाले एव अल्पविकसित राष्ट्र को विकसित एव नवचेतना मे

उत्सर्जित देश को पश्चिमी राष्ट्रों की चेतना-परम्परा से मिली थी। अपने अतीत सांस्कृतिक वैभव और वर्तमान की विपन्नता का अहसास फिर प्रतिस्पर्द्धा और अनुकरण का भावविज्ञान की चुनौती के ही परिणाम थे। पर विज्ञान के साथ यह मुठभेड़ धीरे-धीरे एक संकट में बदलता गया। विज्ञान ने जो अपेक्षाएँ जगाई थीं वे पूरी न हो सकीं। क्यों? क्योंकि विज्ञान के साथ नेहरूयुग की व्यक्ति चेतना का कोई द्वन्द्वात्मक रिश्ता कायम नहीं हो सका। नेहरूयुग का विज्ञान मानव-चिन्तन की प्रक्रिया को तेज कर उसे समसामयिक परिवेश के सन्दर्भ में जागरूक मानव-कर्म से जोड़कर व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों के ढाँचे में कोई मूलभूत परिवर्तन करने के लिए नहीं था, बल्कि चीन की लम्बी उछाल की तरह बिना उस प्रक्रिया-चक्र को पूरा किए उपलब्धि की परिणति तक पहुँचने की साहसिकता थी। गति के नियम की अवहेलना में प्राप्त इस रोमांटिक साहसिकता का दुखद अन्त मोहभंग ही हो सकता था। विज्ञान के साथ द्वन्द्वात्मक रिश्ते के बनने में परम्परा का बोध बाधक था—एक गौरवशाली अतीतवाली परम्परा का बोध जिसे जाग्रत करने में विज्ञान का भी हाथ था और जिसका सिर्फ एक अस्पष्ट किन्तु आकर्षक बिम्ब भर रह गया था। नेहरूयुग की 'आधुनिकता' दरअसल परम्परा के इस आकर्षक बिम्ब से साथ एक समझौता थी। नेहरू ने जब भाखड़ानंगल को 'आधुनिक युग के तीर्थ' की संज्ञा दी थी तब वे उस छद्म आधुनिकता की ही भाषा इस्तेमाल कर रहे थे जो परम्परा के साथ समझौते से पैदा हुई थी। नेहरू ने विज्ञान को एक जीवन-दर्शन की सी ऊँचाई प्रदान की और उसे एक नवस्वतन्त्रता-प्राप्त राष्ट्र के समक्ष एक विकल्प के रूप में प्रस्तावित किया। यह समय की माँग को देखते हुए ही था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के वर्षों में बराबर महसूस किया जाता रहा कि राजनीतिक स्वतन्त्रता ही काफी नहीं है भारत को आर्थिक दृष्टि से भी स्वतन्त्र होना है, और इस दृष्टि का सीधा ताल्लुक विज्ञान से माना गया। बड़े बड़े कारखाने और इनमें प्रेरित एवं व्यापक सक्रिय वैज्ञानिक चेतना जिससे आर्थिक उत्पादन को गति मिलती रहे। इस दीर्घसूत्री वैज्ञानिक भविष्यवाद में आम आदमी की जरूरतें और उनको आधार प्रदान करने वाला बुनियादी अर्थतन्त्र छिप गया, न इस अर्थतन्त्र के उपलब्ध साधनों का उपयोग किया गया न ही उन साधनों का विकास कर एक सुदृढ़ इन्फ्रास्ट्रक्चर निर्मित करने की कोशिश की गई जिसकी बुनियाद पर एक औद्योगिक समाज की नींव रखी जा सके। फलस्वरूप विज्ञान का विकल्प अर्थवान नहीं हो पाया। समाज के भीतर गतिशीलता के न रहने से वह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया अपेक्षित तेजी से नहीं चलन पाई जो विज्ञान की प्रेरणा को एक वास्तविक जीवन-दर्शन के रूप में साकार कर पाती। विज्ञान की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के प्रवाह से अधूरे रूप से जुड़ पाने, बल्कि कालान्तर में धीरे धीरे उससे कटते जाने का अहसास ही व्यक्ति को निर्वासित करता है।

इस व्यापक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में यह देख सकना मुश्किल नहीं होगा कि नेहरू-युग का निर्वासन विज्ञान के साथ अधूरे साक्षात्कार के कारण था, जबकि नेहरूयुग के बाद का निर्वासन राजनीति के साथ अधूरे साक्षात्कार के कारण है। फर्क सिर्फ यह है कि

पहले निर्वासन की परिणति मोहभंग में हुई थी, जबकि दूसरे निर्वासन की परिणति एक महान सांसत की स्थिति में। पहले निर्वासन में व्यक्ति भीतर से बाहर कर दिया गया था : आदर्शवाद की जिस स्वनिर्मित मीनार में वह बैठा था वह धराशायी हो गई थी : भीतर के रंग से 'तथ्य को सत्य' बनाने वाली आन्तरिकता झूठी पड़ गई थी। इस निर्वासन में 'भीतर' के विकल्प के रूप में 'बाहर' की सत्ता थी और बदले हुए समय में यह सत्ता राजनीति की थी—वैज्ञानिक भविष्यवाद की आदर्शवादी तत्वों के मुकाबले अधिक यथार्थ और ठोस, जिसकी धड़कन एक आम आदमी अपनी नब्ज में महसूस कर सकता था। सन् १९६७ के आम चुनाव के बाद यह धड़कन सबसे अधिक तेजी से महसूस की गई। पर दुर्भाग्य से यहीं से उस राजनीतिक आशावाद और कुण्ठा का भी जन्म हुआ जिसकी परिणति उस दूसरे निर्वासन में हुई। नेहरूयुग की यह विडम्बना थी कि विज्ञान जैसी वस्तुपरक सत्ता एक प्रगतिशील विकसित समाज का सपना देखनेवाली आँख के लिए 'आदर्श' बन गयी। पिछले दशक की यह विडम्बना रही कि राजनीति जैसी वस्तुपरक सत्ता जो वायवीय अमूर्तन की खाई से व्यक्ति चेतना को मुक्त करने के साधन के रूप में थी, आत्मनिर्वासन की कारा में बदल गई। इस दूसरे निर्वासन में व्यक्ति 'बाहर' से भी बाहर कर दिया गया। पर इस बार शरण लेने के लिए 'भीतर' जैसी कोई वैकल्पिक सत्ता नहीं थी। इस तरह यह निर्वासन एक स्तर पर व्यक्ति का दुहरा निर्वासन था—'भीतर' से भी 'बाहर' से भी। पिछले दशक के लेखन में 'अस्मिता की तलाश,' 'जड़ों की खोज,' 'आदिमता की ओर' आदि के स्वर प्रकारान्तर से उस क्षत-विक्षत 'भीतर' की पुनर्रचना कर उसे स्थापित करने के ही प्रयत्न जाहिर करते हैं।

स्वचेतनता का निर्वासन से सीधा सम्बन्ध है। नेहरूयुग के विज्ञान ने अपने सूक्ष्म विश्लेषणात्मक औजारों से स्वचेतनता की प्रक्रिया को तेज किया था। व्यक्ति-चेतना का 'भीतर' और 'बाहर' की इकाइयों में विभाजन उस स्वचेतनता की ही देन है। इसलिए विज्ञान द्वारा लाया गया निर्वासन व्यक्ति का अपने आप से निर्वासन था—व्यक्ति अपने मूल उद्वेगों और संवेदनों तक के प्रति स्वचेतन हो उठा। आध्यात्मिक जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई। छायावाद के जमाने से चले आ रहे 'रहस्य' के अवशिष्ट भी विज्ञान प्रेरित स्वचेतनता में छिन्न-भिन्न हो गए। ऐसे में राजनीति जैसी कर्मप्रधान ठोस वस्तुरूप सत्ता व्यक्ति की एक तात्विक आवश्यकता थी। चीजों को उनके सही नाम से पुकारने का आग्रह यदि नेहरूयुगीन छलावे से मुक्त एक प्रकार की जुझारू सामाजिकता थी, तो दूसरी ओर उस स्वचेतनता के दंश से मुक्त होने की कोशिश का परिणाम भी था। क्योंकि स्वचेतनता झूठे भ्रमों और सत्य के छायाभासों का जहाँ तोड़ती है वहाँ एक घनघोर दुविधा पैदा कर किसी भी सजग कर्म का मुश्किल भी बना देती है। पिछले दशक की साहित्य-चेतना ने स्वचेतनता की उस कारा से मुक्त होने के लिए बहुत हाथ-पाँव मारे हैं—इस दौर में हुए विभिन्न प्रकार के साहित्यिक और अर्धसाहित्यिक आन्दोलन तथा नारे उसी चेष्टा के अंग हैं। पर पिछले दशक की मुख्य समस्या अन्ततः निर्वासित 'भीतर' की रचना करने की समस्या ही रही है। दरअसल इस दशक की ट्रेजिडी यह रही है।

इसमे व्यक्ति न तो लौटकर पूरी तरह 'भीतर' की ओर जा सकता था, न अपने को पूरी तरह 'बाहर' को ही समर्पित कर सकता था। यह एक ऐसी साँसत थी जो नेहरूयुग म नही थी।

मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'अँधेरे मे' नेहरू युग के निर्वासन को समझने मे हमारी कुछ मदद कर सकती है। 'अँधेरे मे' का काव्यनायक उसी मनोभूमि की उपज है जब विज्ञान और प्रविधि व्यक्ति के सामने एक गम्भीर सांस्कृतिक चुनौती के रूप म उपस्थित थे। विज्ञान की तेज सर्चलाइट ने इस काव्यनायक की मन गुहा के तार तार प्रकाशित कर दिए हैं और वहाँ इतिहास के मलबे के नीचे दबी हड्डियाँ और कंकाल नज़र आ रहे हैं। सारे मोहक भ्रम टूट चुके हैं और अब एक निर्मम तटस्थता स अपन भीतरी घावो का जायजा लेना और अपने कृत्यो की बखिया उधेडना बच रहा है। इस खौफनाक स्थिति स घबराकर काव्यनायक भीतर' स 'बाहर' भागता है—'भीतर' का मैं बाहर' भाग कर एक-दूसरे 'मैं' की सृष्टि करता है। इस भीतरी त्रास से बचने के लिए काव्यनायक राजनीति' (परिवेश की सजग सक्रिय चेतना) की तरफ जाता है, एक व्यापक अर्थ मे अपने को प्रतिबद्ध' महसूस करता है। भीतर से बाहर जाने की क्रिया एक प्रकार का माइग्रेशन है जिसम पुराने नीड से बिछुडने की कचोटती हुई मम-व्यथा और नये नीड की सभावनाओ का आतुर उल्लास दोनो ही होता है। 'अँधेरे म' का एक स्वर गहन अवसाद और करुणा का भी है। साथ ही उसम बाह्य परिवेश के प्रति एक जबरदस्त खिचाव और उस परिवेश को मूल प्रेरक शक्तियो के भीतर तक घुस पडने वाली एक अन्तर्वेधी दृष्टि भी है। जिस विज्ञान ने उस स्वचेतन बना कर उसे अपन 'भीतर' से निर्वासित किया वही अब 'राजनीति म उसके लिए विश्लेषण का एक प्रखर औजार सिद्ध हो गई है। 'अँधेरे मे का काव्यनायक यदि अँधेरे के बाहर आ सकेगा तो इसी औजार की मदद मे—यथार्थ चेतना को विकृत करने वाली आदिम रहस्यमय गुहाग्रन्थियो के जजाल काटता हुआ।

पर सन् साठ के बाद वाले दौर म स्थिति इससे भिन्न है। इस दौर के लेखन म जो काव्यनायक प्रतिष्ठित है उस 'बाहर' के प्रकाश म अपने अँधेरे से मुक्ति नही मिलती। वह 'बाहर' की चकाचौंध से भाग कर फिर भीतर' जाना चाहता है पर वहाँ एक मौन रक्तपात है, स्वय अपने ही हाथो की गई एक हत्या है। एक नये कवि के शब्दों म कहे तो हालत यह है कि 'बेहद निजीपन की हत्या और शिनाख्त ही आज कविता है' (देवेन्द्र कुमार, आलोचना-४)।

अपने हाथो की जाने वाली इस हत्या का सिलसिला अभी बन्द नही हो गया है, बल्कि मेलोड्रामा ही हद तक पहुँच चुका है।

डॉ० नामवर सिंह ने अपनी बहस के प्रारम्भ मे जब युवा पीढी के 'बाहर' कर दिये जाने की बात कही थी तब निराला की यह पक्ति "बाहर मैं कर दिया गया हूँ भीतर पर भर दिया गया हूँ" उद्धृत करते हुए यह भी कहा था कि आज की युवा पीढी भीतर म भर दी गयी है। मेरे विचार से यह दूसरी बात शायद व निराला की पक्ति को

देने के सन्दर्भ में सम्पूर्णत सटीक दिशा देने के उत्साहवश बह गये हैं क्योंकि कलेख न युवा पीढ़ी की आन्तरिक सम्पन्नता और भराव का कोई विवेचन-विश्लेषण निलता। बल्कि लेख के स्वर से तो कुल मिला कर यही लगता है कि डॉ० नामवर युवा पीढ़ी से आशान्वित चाहे भले हों, आश्वस्त नहीं हैं। इस दुविधा के कारण ही के लेख में युवा पीढ़ी के 'बाहर' से निर्वासन की क्रूर विडम्बना का न तो स्पष्ट चित्र ने पाता है न खून से लथपथ 'भीतर' की अनिवार्य ट्रैजिडी का मर्म ही उभर पाता। दरअसल इस प्रकार की बरामत उस रक्तरंजित 'भीतर' को छिपाने का एक 'डिफेन्स निज्म' है जिसमें कवियों-लेखकों के साथ कुछ आलोचक-समीक्षक भी शामिल हैं।

स्थिति यह है कि बाहर और भीतर के हाशिये के बीच आज की रचनाशीलता झूल रही है। इसीलिए उसमें एक निरन्तर गति है, गति की तेजी है कि अनुभूति के एक बिन्दु और दूसरे बिन्दु के बीच कुछ भी थिर रहने नहीं पाता, किसी केन्द्र की सघनता में जमने, क्रिस्टल बनने के पहले ही स्वचेतनता की में पिघल कर तरलायित हो जाती है, गति का नैरन्तर्य और उस नैरन्तर्य की ऊब थकान। समकालीन लेखन में वह गति भी है और यह ऊब भी—अपने तमाम मैनेरिज्म' के बावजूद।

यह गति और ऊब एक ही चक्की के दो पाट हैं, और यह चक्की है आत्म-वंचन। मुक्तिबोध ने लिखा है—

पिस गया वह भीतरी
औ बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रैजिडी है नीच।

ग्नी के ये दो पाट हैं परिवेश के साथ तीव्र लगाव और किसी केन्द्र स्थान का न होना। तरह से यही ट्रैजिडी मुक्तिबोध की भी थी। यदि उनका व्यक्तित्व विकेन्द्रित होकर बिखर नहीं पाया तो सिर्फ इसलिए कि वे एक अद्भुत स्नायुविक ऊर्जा से इन दोनों के बीच अन्त तक एक तनावपूर्ण सन्तुलन बनाये रख सके। फैन्टेसी की रचना एक तरह का आन्तरिक पलायन है, पर मुक्तिबोध की फैन्टेसी में भी उस तनावपूर्ण सन्तुलन की सक्रिय और भौतिक ध्वनियाँ सुनायी पड़ती हैं। दरअसल तनाव में व्यक्त होने वाली स्नायुविक ऊर्जा के कारण ही मुक्तिबोध की कला संवेदना एक पतली झिल्ली के नीचे धड़कते हुए जीवित माँस पिण्ड की तरह संवेद्य लगती है जिसे मानो उँगली से छुआ जा सकता है। और इस अपार स्नायुविक ऊर्जा के कारण ही मुक्तिबोध की कला बच जाती है अन्यथा आधुनिक मनुष्य के जिस भय और संत्रास का दबाव वे झेलते हैं वह उनके अस्तित्व के द्वन्द्वात्मक सन्तुलन को छिन्न भिन्न कर दे सकता था।

सर्जनात्मक तनाव और अन्तर्निष्ठा के परस्पर सम्बन्ध के सन्दर्भ से मैंने तनाव के एक खतरनाक बिन्दु' की चर्चा की है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि एक कलाकार की अन्तर्निष्ठा अपनी कला-संवेदना को उस 'खतरनाक बिन्दु' के अधिक से अधिक निकट रख कर उस पर पड़ने वाले सारे दबावों को शिद्दत से महसूस करते हुए

सर्जनात्मक तनाव को बिखरने न देने मे है। इस तरह अन्तर्निष्ठा कायम रखने का प्रश्न अन्तत स्नायुविक ऊर्जा को अटूट बनाये रखने का प्रश्न बन जाता है। मुझे ऐसा लगता है कि पिछले दशक के युवालेखन ने समसामयिक युगबोध के समूचे फैलाव और उसकी अनिवार्य ससक्ति से उत्पन्न तनावो को उस खतरनाक विन्दु तक रखकर अन्तर्निष्ठा बनाये रखने लायक भरपूर स्नायुविक ऊर्जा नही प्रदर्शित की है।

समकालीन जटिल परिवेश का तीव्र अहसास और सर्जनात्मक धरातल पर उसकी चुनौती को फलीभूत न कर पाने की स्थिति मे ही अक्सर सरलीकरण की प्रवृत्ति पनपती है जिसका विघटित रूप सवेदना और भाषा दोनो के ही फार्मूलाबद्ध हो जाने मे दिखायी देता है। सरलीकरण एक प्रकार का शार्टकट है जो स्नायुविक ऊर्जा की कमी का सकेत देता है। बहुत पहले शमशेरबहादुर सिंह ने प्रयोगवाद को 'नर्वस ब्रेकडाउन' की कला कहा था। आज की ज्यादातर कविता को अगर 'नर्वस डैबिलिटी' की कला कहा जाय तो शायद अत्युक्ति नही होगी। आज का न सिर्फ अधिकांश लेखन बल्कि विद्रोह की मुद्राएँ भी क्यो शाब्दिक लगती हैं? इसलिए नही कि उसके पीछे अनुभूति की प्रामाणिकता नही है या वह भोगे हुए यथार्थ से नही उपजा है, बल्कि इसलिए कि सवेदना और उसकी धारक *भाषा के बीच कार्यरत तनाव ढीला पड गया है या बिखर गया है।* ऐसा होने पर सच्ची सवेदना के रहने पर भी शब्द मुर्दार पड जाते हैं और प्रामाणिक लेखन छद्म लेखन बन जाता है। कहना न होगा कि सवेदना और भाषा के बीच कार्यरत उस तनाव को खुराक स्नायुविक ऊर्जा से ही मिलती है।

मैंने स्नायुविक ऊर्जा की कमी को किसी जीवनमूलक कसौटी के रूप मे नही, बल्कि सर्जनात्मक प्रतिफलन के रूप मे ही ग्रहण किया है। युवालेखन के सन्दर्भ मे अक्सर 'विद्रोह' और 'आक्रोश' जैसे शब्द प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। आलोचना—४ की युवालेखन पर बहस मे भी यह बात उभर कर आयी है कि युवापीढी ने अपनी विशेष और अद्वितीय ऐतिहासिक स्थिति के कारण वह कुछ कर दिखाया है—चाहे वह यथार्थ का बिना लाग-लपेट के चित्रण हो, सेक्स और राजनीति हो अथवा आडम्बरहीन प्रत्यक्ष सवेदनो से उत्पन्न गैर-रूमानी भाषा-प्रयोग—वह पूर्व पीढी और बिचली पीढी के बूते का *न था। मेरे विचार से विद्रोह और आक्रोश तथा इनसे जुडने वाले सभी सन्दर्भ यही प्रकट* करते हैं कि युवा पीढी ने एक परिवर्तित ऐतिहासिक भूमिका मे अपनी स्थिति को साहस-पूर्वक स्वीकार किया है, और कम-से-कम इस साहसपूर्ण स्वीकार के कारण ही युवालेखन महत्वपूर्ण माना जायेगा। पर जिस तरह से यह विद्रोह और आक्रोश धीरे-धीरे चीख और हुल्लड के एक पैटर्न का रूप अख्तियार करता गया है—इस हद तक कि कुछ लोग भाषा और सवेदना के अवमूल्यन की बात करने लगे हैं—उससे यही लगता है कि उस ऐतिहासिक भूमिका मे पड जाने के बाद उसकी नियामक जीवन-प्रक्रिया के साथ गहन स्तरों पर तो युवालेखन बराबर चलता रहा, किन्तु सृजन-प्रक्रिया कही पीछे पडती चली गयी। सृजन प्रक्रिया के मन्द पड जाने के कारण ही विद्रोह और आक्रोश झूठा पडने लगा है।

इसके बावजूद युवालेखन मे 'मानवीयता की अनुपस्थिति' ढूंढना या उसे नैतिक असवेदन का लेखन करार देना उसके साथ ज्यादती करना है। युवालेखन का जो गैर-जिम्मेदार अश रहा है उसे भी इस दृष्टि से खारिज नही किया जा सकता। जैसाकि इस लेख के प्रारम्भ मे ही सकेत दिया जा चुका है, गैर-जिम्मेदार लेखन के मूल मे भी जीवन-प्रक्रिया और सृजन प्रक्रिया के बीच के अन्तराल का अहसास ही है। गैर-जिम्मेदार लेखन मे अक्सर जीवन-प्रक्रिया सृजन प्रक्रिया पर हावी रहती है। फलस्वरूप उसमे सर्जनात्मक तनाव उपस्थित नही होता। जबकि जिम्मेदार लेखन मे दोनो ही प्रक्रियाओ के बीच एक समानान्तर सर्जनात्मक तनाव बराबर बना रहता है। इस प्रकार गैर-जिम्मेदार लेखन सर्जनात्मक दृष्टि से विकेंद्रित या स्वचालित लेखन होता है। विकेन्द्रित अथवा स्वलित लेखन का पूरा विवेचन प्रस्तुत कर सकना यहाँ सम्भव नही है, पर उसके बारे मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गैर-जिम्मेदार लेखन अप्रासगिक होते हुए भी अप्रामाणिक नही है। अप्रासगिक इसलिए कि उसके आधार पर किसी स्पृहणीय सृजन मूल्य की कसौटी नही निर्धारित की जा सकती और अप्रामाणिक इसलिए नहीं क्योकि उसमे जीवनानुभवो का दबाव प्रतिपल महसूस होता रहता है। जिसम यह दबाव भी न हो वस्तुत उसे गैर जिम्मेदार लेखन नही कहना होगा, बल्कि उसे लेखन ही नही कहना होगा। अ-कविता और 'अ' उपसर्ग मूलक सब साहित्य-आन्दोलन भी इस अर्थ मे अलेखन नही है।

अन्त म, गैर जिम्मेदार लेखन और छद्म लेखन मे फर्क करना जरूरी है। गैर-जिम्मेदार लेखन मे कम से-कम जीवनानुभूतियो का दबाव तो रहता है, चाहे वह दबाव सर्जनात्मक परिणति तक पहुँचने के पहले ही बिखर जाय। देखें तो गैर जिम्मेदार लेखन की समस्या भी यही है कि वह परिवेशजन्य प्रतिक्रियाओ के तनावों को एक निश्चित तापमान पर बराबर कायम नही रख पाता। अत इसमे रचना तनावो मे नही, तनावो से मुक्त होने मे होती है। सर्जनात्मक स्तर पर तनाव से मुक्त होने की कोशिश एक प्रकार से रचना के नैतिक दायित्व से चूकने का लक्षण है एक असामर्थ्य का द्योतक। इस चूक और असामर्थ्य के कारण ही नीयत म ईमानदार होते हुए भी गैर-जिम्मेदार लेखन अप्रासगिक लेखन हो जाता है। छद्म लेखन के साथ इस प्रकार की कोई समस्या नही होती, क्योकि वह जीवनानुभूतियो का नही जीवन की मुद्राओ का लेखन होता है। मुद्राएँ आकर्षक भी हो सकती हैं और चौंकाने वाली भी, और जिस माहौल मे जीवन-मूल्यो और सृजन मूल्यो का स्पष्ट विवेक न हो वहाँ वे जीवित का भ्रम भी पैदा कर सकती हैं। इस बात की सम्भावना बहुत अकल्पनीय नही दीखती कि हिन्दी का बहुत-सा युवा-लेखन एक ओर यदि जिम्मेदार लेखन और गैर जिम्मेदार लेखन के बीच के किसी स्तर पर चल रहा है तो दूसरी ओर गैर-जिम्मेदार लेखन और छद्मलेखन के बीच के किसी स्तर पर भी चल रहा है। इन तमाम स्तर भेदो की सूक्ष्म पड़ताल युवालेखन की सर्जनात्मकता पर निश्चय ही कुछ नया प्रकाश डाल सकती है